रवीन्द्र द्वादशी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की १२ उत्कृष्ट कहानियां
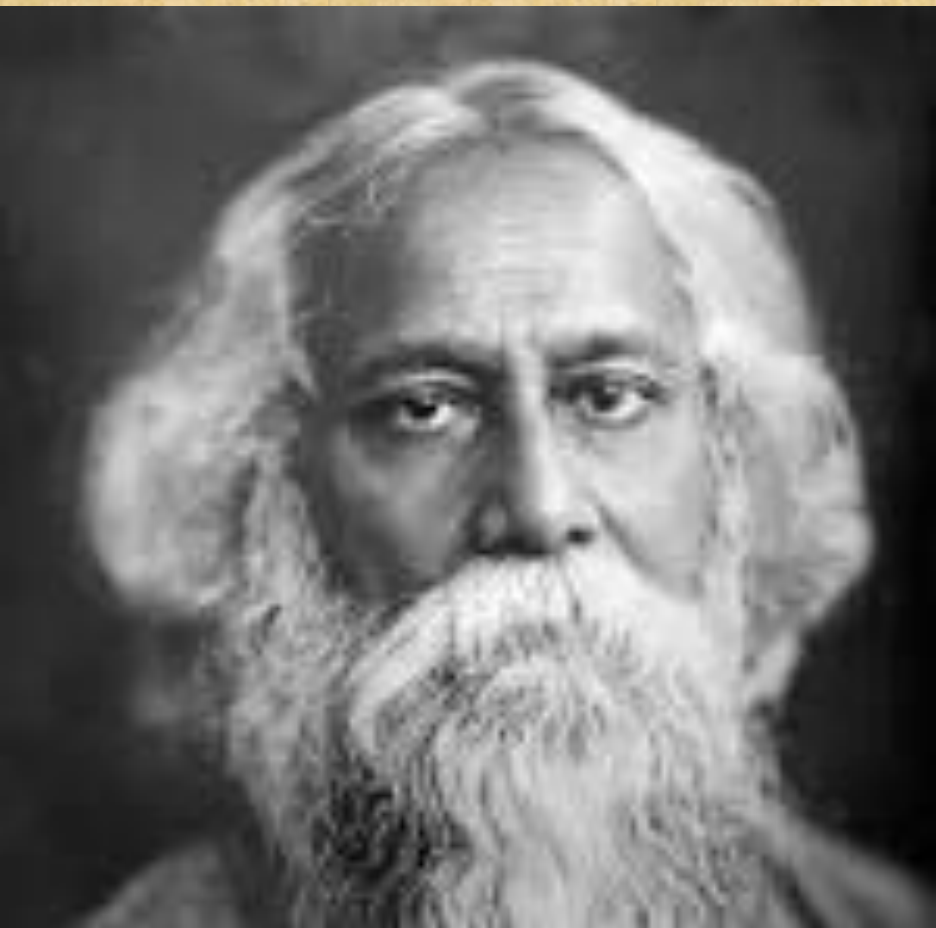
प्रस्तावना: हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

हिंदी: राधेश्याम पुरोहित

रवीन्द्र-द्वादशी

(कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बारह उत्कृष्ट कहानियाँ)

•

भाषान्तरकार

राधेश्याम पुरोहित

प्रस्तावना

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

•

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट : दिल्ली-६

मूल्य

दो रुपया

कथा-सूची

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली में मुद्रित ।

प्रस्तावना

श्री राधेश्याम पुरोहित शान्तिनिकेतन में विद्याध्ययन कर रहे हैं। 'रवीन्द्र की लघुकथाएँ' नामक एक छोटी-सी पुस्तक इन्होंने पहले ही लिखी है। उस पुस्तक में रवीन्द्रनाथ के उन प्रिय कथानकों में से कुछ के हिन्दी रूपान्तर का संकलन है, जिन्हें उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया था। रवीन्द्रनाथ गीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तो थे ही, छोटी-छोटी कहानियों के लेखक के रूप में भी उनकी प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार दिखाई पड़ता है। बहुत-सी कहानियाँ तो उन्होंने 'कहानी' के रूप में ही लिखी हैं। एक अंग्रेज़ समालोचक ने इन कहानियों के सम्बन्ध में लिखा है कि रवीन्द्रनाथ का काव्य चाहे चिरजीवी हो या न हो, पर ये कहानियाँ उन्हें निश्चित रूप से अमर कीर्ति देंगी। इस उक्ति से रवीन्द्रनाथ की कहानियों के महान् आकर्षण का आभास मिलता है। काव्य के लिये भी रवीन्द्र-नाथ ने कहानियों का आधार चुना है। उनकी बहुत-सी कवि-ताएँ पद्यबद्ध कथाएँ हैं। बहुत-से सुकुमार भावों के गीतिकाव्य कहानी के रूप में पद्यबद्ध हुए हैं। संसार के बहुत कम कवि कहानी को इसप्रकार के सुकुमार भावों को व्यक्त करने का माध्यम बना सके हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि

रवीन्द्रनाथ ने जिन रचनाओं को गद्य में 'कहानी' रूप में लिखा है और जिन्हें पद्यबद्ध करके 'काव्य' रूप में लिखा है उनमें कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः पद्यबद्ध कहानियों में कल्पना और भावावेग का प्राधान्य है और गद्यबद्ध कहानियों में विश्लेषण और अन्तर्दर्शन का। रवीन्द्रनाथ की कविताओं में से सभी प्रकार की कहानियों की कथावस्तुएँ यदि चयन की जाएँ तो उनकी संख्या कई सौ होगी। श्री राधेश्याम ने इन अनेक प्रकार की कहानियों में से अपनी रुचि की कुछ कथाएँ चुनकर यह संग्रह प्रस्तुत किया है। यद्यपि इसमें नाना श्रेणी की रचनाओं से सामग्री ली गई है, फिर भी मुझे यह प्रयास बहुत उत्तम मालूम हुआ। क्योंकि, यद्यपि इनमें काव्योचित भावावेग और संगीत-सुलभ कल्पना-प्रसार कम हो गया है, पर ये इस रूप में भी रवीन्द्रनाथ के विचार-वैभव को अवश्य पाठकों तक पहुँचा देती हैं।

श्री राधेश्याम की मातृ-भाषा यद्यपि हिन्दी (राजस्थानी) है, तथापि उनका विकास बंगलाभाषी क्षेत्रों में ही हुआ है और इसीलिये वे बंगलाभाषी भी हैं। उन्होंने रवीन्द्रनाथ के साहित्य से उत्तम रत्नों को चुनकर बहुत अच्छा कार्य किया है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि उनकी यह साहित्य-प्रीति निरन्तर बढ़ती रहे और वे भी बहुमूल्य रचनाएँ साहित्य-संसार को देते रहें। तथास्तु।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

शान्तिनिकेतन
१४–६–५४

: १ :

सुभा

लड़की का नाम जब सुभाषिणी रखा गया था तो कौन जानता था कि वह गूँगी होगी। उसकी दो बहिनों का नाम था सुकेशिनी और सुहासिनी। तभी छोटी लड़की का बड़ी बहनों के नाम से मेल रखने के लिए नाम दिया गया—सुभाषिणी। अब सब लोग संक्षेप में उसे सुभा कहते हैं।

अच्छी तरह अनुसंधान करके और अर्थव्यय करके दोनों बड़ी लड़कियों की शादी तो हो चुकी है, अब छोटी लड़की पिता-माता पर नीरव हृदय भार की तरह बैठी हुई है। वह बोल नहीं सकती थी, वह केवल अनुभव कर सकती थी, सभी लोग उसके सामने ही उसके भविष्य के बारे में दुश्चिन्ता प्रकाश करते थे। वह विधाता के अभिशाप को लेकर ही पिता-माता के घर आई है, यह बात शिशुकाल से वह जानती थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह सर्वदा अपने को लोगों से छिपाकर रखना चाहती थी। यह सोचती कि लोग मुझे भूल जाएँ तो ही अच्छा हो। किन्तु वेदना को क्या कोई भुला सकता है? पिता-माता के मन में वह सदा जागरूक थी।

विशेषरूप से उसकी मां उसे अपनी एक त्रुटि के रूप में

देखती थी। क्योंकि मां पुत्र की अपेक्षा कन्या को अपने ही अंश की तरह देखती है—उसकी यदि कोई असम्पूर्णता दिखाई पढ़े तो मां उसे अपनी लज्जा का कारण समझती है। पिता विशेष रूप से सुभा को अपनी अन्य कन्याओं की अपेक्षा अधिक स्नेह करते थे। किन्तु माता उसे अपने गर्भ का कलंक समझकर उसके प्रति विरक्त थी।

सुभा के वाणी नहीं थी, किन्तु सुदीर्घपल्लव बड़ी-बड़ी दो काली आँखें उसके थीं—और उसके अधर भाव के आभास-मात्र से ही किसलय की तरह काँप उठते थे।

बात-चीत में हम जो भाव व्यक्त किया करते हैं वह हम अपनी चेष्टा से घड़ लेते हैं, बहुत कुछ रूपान्तर करने की तरह होता है जो हर वक्त ठीक नहीं होता है, कभी-कभी भूल-चूक भी हो जाती है। किन्तु काली आँखों का कुछ भी विश्लेषण नहीं करना पड़ता है—मन की छाया उन पर अपने-आप पड़ती है।

भाव स्वयं कभी उन पर प्रसारित होता है, कभी मुदित होता है, कभी उज्ज्वल होकर जल उठता है, कभी ग्लानि होकर बुझ जाता है, कभी अस्तप्राय चन्द्र की तरह अनिमेष देखता रहता है, कभी चंचल विद्युत की तरह कौंध उठता है। मुख के भाव के सिवाय आजन्मकाल से जिसकी भाषा कोई नहीं है, उसकी आँखों की भाषा उदार, अतल, स्पर्श-गम्भीर, बहुत ही स्वच्छ आकाश की तरह, उदयास्त और छायालोक की निस्तब्ध रंगभूमि जैसी होती है। इस वाक्यहीन मनुष्य में प्रकृति की तरह एक विजन महत्व है। इसीलिये साधारण

बालिकायें सुभा से एक प्रकार डरती थीं, वे उससे खेलती नहीं थीं। वह निर्जन दोपहरी की तरह शब्दहीन और संगहीन रहती।

(२)

गाँव का नाम चण्डीपुर है। एक छोटी नदी भी है, घर की बेटी की तरह। बहुत दूर तक प्रसार नहीं है फिर भी दोनों किनारों के गाँवों से उसका सम्पर्क नितान्त कम नहीं है। नदी के दोनों ओर लोकालय है और उसका तट तरुछाया से घना है।

सुभा के पिता वाणीकंठ का मकान नदी के बिल्कुल पास ही है। उसके मकान की चार-दीवारी, गौघर, आम, कटहल और केले के गाछ, पुआल का स्तूप इत्यादि नौकायात्रियों के दृष्टिपथ में आते हैं। इस गृहस्थी की स्वच्छन्दता में कोई गूँगी लड़की के बारे में भी सोचता है या नहीं, यह मैं नहीं जानता; किन्तु काम-काज से अवसर पाते ही वह नदी के तीर पर आकर बैठ जाती है।

प्रकृति मानो उसकी भाषा का अभाव पूरा कर देती है। मानो उसकी होकर बोलती है। नदी की कलध्वनि, लोक-कोलाहल, माँझियों का गीत, पक्षियों की अर्थहीन भाषा, तरु मर्मर—सब मिलकर चारों ओर के परिवेश से एक होकर बालिका के चिर निस्तब्ध हृदय में समुद्र तरंग की तरह आते हैं और उसके हृदय उपकूल पर वे तरंगें टकराकर टूट जाती हैं। प्रकृति के विचित्र शब्द और गति, ये भी गूँगे की भाषा ही है—सुभा की बड़ी-बड़ी आँखों की भाषा का ही यह विश्वव्यापी विस्तार है; झिल्लीरव पूर्ण तृणभूमि से शब्दहीन

नक्षत्रलोक तक केवल इंगित, भंगिमा, संगीत, क्रंदन और दीर्घनिश्वास ही तो है।

और जब मल्लाह और महुवे दोपहर में खाने जाते, गृहस्थ लोग सोते रहते, नाँव चलती नहीं थी, सजन जगत् सारे काम-काज के बीच सहसा ठहरकर भयानक विजन मूर्ति-धर लेता तो रुद्र महाकाश के नीचे केवल एक निर्वाक् प्रकृति और एक निर्वाक् लड़की ग्रामने सामने चुपचाप बैठे रहते—एक सुविस्तीर्ण रौद्र में, दूसरी क्षुद्र तरुच्छाया के नीचे।

सुभा के भी कुछ मित्र थे। इनमें उनकी दो गाय, जिनका नाम सर्वशी और पांगुली था, सुभा को अधिक प्रिय थीं। बालिका के मुँह से अपना नाम कभी न सुनकर भी सर्वशी और पांगुली सुभा के पदशब्द को पहचानती थीं—सुभा के कथाहीन करुणा स्वर को वे भाषा की अपेक्षा अधिक समझती थीं। सुभा कब उनका आदर कर रही है, कब उनसे मिन्नतें कर रही है, कब भर्त्सना कर रही है, यहाँ मनुष्य से अधिक वे समझदार थीं।

सुभा गोघर में जाकर अपनी दोनों बाहु से सर्वशी का ग्रीवावेष्टन कर लेती और उसके कान के पास अपनी कन-पटी रख कर घिसती। पांगुली खड़ी उसे स्निग्धदृष्टि से देखती और उसका शरीर चाटती रहती। सुभा प्रतिदिन नियमित तीन बार गो घर में जाती, इसके अलावा अनियमित जाना तो था ही। घर पर किसी दिन यदि कोई कटु बात सुनती तो वह असमय में अपने दोनों मूक-बंधुओं के पास आ जाती—उसकी सहिष्णुता परिपूर्ण विषादशान्त दृष्टिपात से

ही सर्वशी और पांगुली मानो एक अन्ध अनुमान शक्ति के द्वारा बालिका की मर्मवेदना समझ लेतीं और सुभा के नज़दीक आकर उसकी बाहु पर अपने सींग घिसकर निर्वाक् व्याकुलता से धीरज देतीं।

इसके अलावा सुभा के मित्रों में एक बकरी और बिल्ली का बच्चा भी था, किन्तु उनसे सुभा की इतनी समानता की मित्रता न थी, फिर भी वे यथेष्ट अनुराग प्रकाशित करते। बिल्ली का बच्चा किसी भी समय आकर सुभा की गरम गोद में सुखनिद्रा के लिये प्रस्तुत हो जाता और यदि सुभा उसकी ग्रीवा और पीठ पर हाथ फेरे तो उसकी निद्रा में विशेष सहायता होगी, इंगित से यह भी समझा देता।

(३)

उन्नत श्रेणी के प्राणियों में सुभा का और एक मित्र था। किन्तु उसके साथ बालिका का ऐसा सम्पर्क था यह निर्णय करना कठिन है, क्योंकि वह भाषा विशिष्ट प्राणी है; इसलिये दोनों में समभाषा नहीं थी।

गोसाइयाँ के छोटे लड़के का नाम प्रताप था। वह नितान्त निकम्मा था और कभी काम-काज करके परिवार की उन्नति कर सकेगा, यह आशा उसके मां-बाप ने त्याग दी थी। निकम्मों की सुविधा यह है कि परिवार के लोग उन पर विरक्त ज़रूर रहते हैं किन्तु वे लोग निःसम्पर्क लोगों के प्रियपात्र हो जाते हैं—क्योंकि किसी काम में आवद्ध न रहने के कारण वे सरकारी सम्पत्ति के रूप में हो जाते हैं। शहर में जैसे गृहसम्पर्कहीन दो-चार सरकारी बगीचों की आवश्य-

कता होती है, गाँव में उसी तरह दो-चार अकर्मण्य सरकारी लोगों का रहना नितान्त आवश्यक है। जहाँ भी जरूरत हो इन्हें बुलाया जा सकता है।

प्रताप का प्रधान शौक़ था—मछली पकड़ना। इससे बहुत-सा समय सहज में ही कट जाता है। दोपहर के बाद नदी के तीर पर उसको यह काम करते देखा जाता था। और यहीं सुभा के साथ उसकी भेंट हो जाती थी। किसी काम में ही हो, एक संगी मिलने पर प्रताप खुश रहता है। और मछली पकड़ते वक्त वाक्यहीन संगी ही सबसे अधिक उपयुक्त है—इसलिये प्रताप सुभा की आवश्यकता समझता था। सुभा को सभी लोग सुभा कहकर पुकारते थे, किन्तु प्रताप थोड़ा अतिरिक्त आदर के साथ सुभा को 'सू' कहता था।

सुभा इमली के पेड़ के नीचे बैठी रहती और प्रताप पानी की ओर देखता हुआ बैठा रहता। बीच-बीच में सुभा प्रताप को पान देती और बैठी-बैठी सोचती कि वह प्रताप का और कोई काम करे, किसी तरह उसे यह समझने दे कि इस पृथ्वी पर उसका भी कुछ प्रयोजन है जो नितान्त कम नहीं है। किन्तु करने के लिये कुछ नहीं था।

तब वह मन ही मन विधाता से अलौकिक क्षमता की प्रार्थना करती—मनशक्ति से सहसा ऐसा कुछ करने की इच्छा होती, जिसे देखकर प्रताप आश्चर्य-चकित हो जाता, बोलता, "अरे! हमारी सू में इतनी क्षमता थी, यह तो मालूम ही नहीं था।"

सोचो, यदि सुभा जल कुमारी होती तो धीरे-धीरे पानी

से निकलकर साँप की एक मणि घाट पर रख जाती; प्रताप तुच्छ मछली पकड़ना छोड़कर वह मणि लेकर पानी में डुबकी लगा लेता और पाताल में जाकर देखता—चाँदी के महल में वह कौन बैठी है ?—हमारी वाणीकंठ की गूंगी लड़की सू—हमारी सू, मणिदीप्त गम्भीर, निस्तब्ध पातालपुरी की एकमात्र राज-कन्या ? क्या यह असम्भव है। किन्तु असल में कुछ भी असम्भव नहीं है। फिर भी सू प्रजाशून्य पाताल के राजवंश में न जन्म लेकर वाणीकंठ के घर में ही जन्मी है और गोसांई के लड़के प्रताप को किसी तरह भी आश्चर्य-चकित नहीं कर पा रही है ?

(४)

सुभा की उम्र क्रमशः बढ़ती जा रही है। क्रमशः वह मानो अपने को अनुभव करने लगी है। मानो किसी एक पूर्णिमा तिथि के दिन समुद्र से ज्वार का स्रोत आकर उसकी अन्तरात्मा को एक नवीन अनिर्वचनीय चेतना शक्ति से परि-पूर्ण कर रहा है। वह अपने को खुद ही देख रही है, सोच रही है, प्रश्न कर रही है और समझ नहीं रही है।

गम्भीर पूर्णिमा की रात को वह एक-एक दिन डरते-डरते द्वार खोल कर बाहर की ओर देखती। पूर्णिमा प्रकृति भी मानो सुभा की तरह एकाकिनी सुप्त जगत् पर जाग कर बैठी है—यौवन के रहस्य में, पुलक में, विषाद में, असीम निर्जनता की शेष सीमा तक और इन्हें अतिक्रम करके भी स्तब्ध है, एक शब्द भी नहीं बोल पा रही है। इस निस्तब्ध प्रकृति के प्रान्त पर एक निस्तब्ध व्याकुल बालिका खड़ी है। इधर कन्यादाय

ग्रस्त माता-पिता चिन्तित हो उठे हैं। लोगों ने निन्दा शुरू कर दी है। यहाँ तक कि जाति से बाहर निकलने की अफवाह भी सुनी जा रही है। वाणीकंठ की अवस्था स्वच्छन्द थी, इसलिये उनके शत्रु भी थे।

पति-पत्नी में बहुत परामर्श हुआ। कुछ दिन के लिये वाणीकंठ विदेश गये।

अन्त में लौटकर बोले—"चलो, कलकत्ते चलो।" यात्रा की तैयारियाँ होने लगीं।

कोहरे से आवृत प्रभात की तरह सुभा का सारा हृदय अश्रुकण से भर गया। एक अनिर्दिष्ट आशंका के कारण क्रमागत वह कुछ दिनों से निर्वाक् जन्तु की तरह अपने माँ-बाप के साथ रहती—बड़ी-बड़ी आँखों से उनके मुँह की ओर देखकर कुछ समझने की कोशिश करती, किन्तु वे कुछ भी समझा कर नहीं कहते थे।

एक अपराह्न में प्रताप मछली पकड़ रहा था। सुभा को देखकर हँसकर बोला, "क्यों रे सू, सुना तेरा दुल्हा मिल गया है, तू ब्याह करने जा रही है? देखना हमें मत भूल जाना।"

यह कह कर वह फिर मछली पकड़ने लगा।

मर्मबिद्ध हरिणी जिस तरह व्याध की ओर देखकर नीरव भाषा में बोलती है—मैंने तुम्हारा क्या दोष किया था।—सुभा ने भी प्रताप की ओर उसी तरह देखा। उस दिन इमली के पेड़ के नीचे और नहीं बैठी। वाणीकंठ सोकर उठे थे। वे शयनगृह में हुक्का पी रहे थे। सुभा आकर उनके पैरों के पास

बैठ गई और उनके मुँह की ओर देखकर रोने लगी। उसे सान्त्वना देते वक्त वाणीकंठ की आँखों में भी आँसू आगये।

कल कलकत्ते जाने का दिन स्थिर हुआ है। सुभा गोघर में अपनी बाल सखियों से विदाई लेने गई। उन्हें अपने हाथों से खिलाया, उनका गला पकड़कर दोनों आखों से उनका मुँह देखने लगी—धीरे-धीरे सुभा की दोनों आँखों से आँसू की बूदें लुढ़कने लगीं।

उस दिन शुक्ल द्वादशी की रात्री थी। सुभा सोने के कमरे से निकल कर अपनी चिरपरिचित नदी तट की शश्य-शय्या पर लेटकर रोने लगी—मानो धरती को, इस प्रकाण्ड मूक मानवता को कहना चाहती है—तुम मुझको जाने मत दो मां। अपनी दोनों बाहु बढ़ाकर मुझे रोक लो।

कलकत्ते में एक दिन सुभा की मां ने सुभा को अच्छी तरह सजा दिया। अच्छी तरह वेणी गूँथी, बालों में जरी का फीता लगाया, अच्छे-अच्छे अलंकार पहनाकर उसकी स्वाभाविक श्री को यथासाध्य विलुप्त कर दिया। सुभा की दोनों आँखों से अश्रु झर रहे थे; कहीं आँख फूलने पर अच्छी नज़र न आये यह सोचकर उसकी मां सुभा को घुड़क रही थी, किन्तु अश्रुजल कहीं रोके रुकते हैं?

बंधुओं के साथ दूल्हा स्वयं कन्या देखने आये हैं—कन्या के मां-बाप चिन्तित हैं मानो देवता स्वयं अपने बलिदान का पशु पसन्द करने आये हैं। मां ने नेपथ्य से सुभा को डरा-धमका कर, समझा-बुझाकर परीक्षक के सामने भेज दिया। बालिका की आँखों से अश्रुश्रोत उमड़ रहा था। परीक्षक बहुत

देर देखने के बाद बोले, "ठीक है !"

बालिका का क्रन्दन देखकर परीक्षक ने यह समझा कि इसके हृदय है और सोचा कि 'जो हृदय आज मां-बाप से विच्छेद की सम्भावना से व्यथित हो उठा है, वही थोड़े दिनों बाद मेरे व्यवहार में आ जायेगा।' शुक्ति की मुक्ता की तरह बालिका के अश्रुजल ने केवल उसके मूल्य को ही बढ़ा दिया, उसकी ओर से और कुछ नहीं बोले।

शुभ मुहूर्त पर ब्याह हो गया।

गूँगी लड़की को दूसरों के हाथ सौंप कर मां-बाप गाँव लौट गये—उनकी जाति और परलोक की रक्षा हुई। वर पश्चिम में काम करता है। इसलिये ब्याह के अनतिविलम्ब स्त्री को लेकर पश्चिम चला गया। एक सप्ताह के भीतर सभी समझ गये कि नव-वधू गूँगी है। यह उसका दोष नहीं है यह किसी ने नहीं सोचा। उसने किसी को धोखा नहीं दिया है—उसकी आँखों ने सारी बातें पहले ही कह दी थीं, किन्तु कोई समझ नहीं पाया था। वह चारों ओर देखती—कुछ कहने के लिये उसके पास भाषा नहीं थी—जो लोग वाक्यहीन की भाषा समझते थे, उन आजन्म परिचितों का मुँह उसे दिखाई नहीं पड़ता था। बालिका के चिरनीरव हृदय में एक अव्यक्त क्रन्दन बज रहा था, जिसे केवल अन्तरात्मा को छोड़कर और कोई नहीं सुन सकता था।

इस बार उसके पति ने अच्छी तरह देख-भाल कर एक भाषा विशिष्ट कन्या से व्याह किया।

: २ :

कंकाल

हम तीन बालसाथी जिस घर में शयन करते थे उसकी पास वाली कोठरी में एक नर-कंकाल लटकाया हुआ था। रात को हवा में उसके हाड़ एक-दूसरे से टकरा कर शब्द करते थे। सुबह हम लोग उन्हीं हाड़ों की परीक्षा करते थे। हम तब एक पंडित जी के पास 'मेघनाथ बध' काव्य और कैम्बल स्कूल के एक छात्र के निकट अस्थिविद्या पढ़ते थे। हमारे अभिभावक की इच्छा थी कि वे हम लोगों को सहसा सर्वविद्या में पारदर्शी करके रहेंगे। उनका यह अभिप्राय कहाँ तक सफल हुआ था यह बात जो हमें जानते हैं उनसे कहना बाहुल्य है और जो हमें नहीं जानते हैं उनसे छिपाना ही श्रेय है।

इसके बाद बहुत दिन बीत गये। इस बीच उस कोठरी से कंकाल और हमारे दिमाग़ से अस्थि-विद्या कहाँ स्थानान्तरित हो गये, ढूंढ़ने पर भी इनका पता नहीं चलेगा।

कुछ दिन हुये, एक दिन रात को किसी कारण से अन्यन्त्र स्थानाभाव के कारण मुझे उस कोठरी में ही सोना पड़ा। इस कोठरी में मुझे सोने का अभ्यास नहीं था

इसलिए नींद नहीं आ रही थी ? करवटें लेते-लेते गिरजे की घड़ी में लम्बे-लम्बे सारे घण्टे बज गये। इसी समय घर के भीतर जो दीपक जल रहा था वह बुझ गया। इसके पहले हमारे घर में दो-एक दुर्घटनाएं हुई थीं। दीप-शिखा के बुझते ही मृत्यु की बात मन में उदित हुई। मैंने सोचा, रात के दूसरे पहर में एक दीप-शिखा चिरान्धकार में खो गई, प्रकृति के पास यह जैसी तुच्छ घटना है। मनुष्य की छोटी-छोटी प्राणशिखा कभी दिन में कभी रात में हठात् बुझकर विस्मृत हो जाती है, यह भी वैसी ही घटना है।

क्रमशः उस कंकाल की याद आई। उसके जीवित काल की कल्पना करते-करते सहसा ऐसा लगा कि एक चेतन पदार्थ अन्धेरे में कोठरी की दीवारों को टटोलता हुआ मेरी मसहरी के चारों ओर घूम रहा है। उसके स्वाँस का शब्द में स्पष्ट सुन रहा था। वह मानो कुछ ढूँढ़ रहा हो, और उसे उसकी ईप्सित् वस्तु नहीं मिल रही है। स्पष्ट समझ गया कि यह सब मेरे निद्राहीन उष्ण मस्तिष्क की कल्पना है। किन्तु फिर भी शरीर रोमांचित हो उठा। बलपूर्वक इस अकारण भय को तोड़ने के लिए बोला, "कौन है ?" पद-शब्द मेरी मसहरी के पास आकर रुक गये और एक उत्तर सुनाई पड़ा—"मैं हूँ। मेरा वह कंकाल कहाँ गया, उसे ढूँढ़ने आई हूँ।"

मैंने सोचा, अपनी काल्पनिक सृष्टि के सामने डरना भी कोई बड़ी बात नहीं है। तकिये को अंक में भरकर चिरपरिचित के सहज स्वर में बोला—"इतनी रात को यह

तुमने अच्छा काम ढूँढ़ निकाला है। किन्तु, वह कंकाल अब तुम्हारे क्या काम आयेगा?"

अंधेरे में मसहरी के अत्यन्त नज़दीक से उत्तर मिला—"कहते क्या हो? मेरी छाती का हाड़ जो उसमें था। मेरा छब्बीस वर्ष का यौवन उसी के चारों ओर ही तो विकसित हुआ था। क्या उसे एक बार देखने की इच्छा न होगी?"

मैं तुरन्त बोला—"ठीक है। तो, तुम उसे ढूँढो, मैं सोने की चेष्टा करूँ।"

वह बोली—"तुम अकेले हो? तो थोड़ी देर बैठ जाऊँ। थोड़ी बातें की जाएँ। पैंतीस वर्ष पहले मैं भी मनुष्य के पास बैठकर मनुष्य की बातें किया करती थी। इन पैंतीस वर्षों तक मैं श्मशान की हवा में बहती रही हूँ। आज तुम्हारे पास बैठ फिर एक बार मनुष्य की तरह बातें करना चाहती हूँ।"

मैंने अनुभव किया कि मानो कोई मेरी मसहरी के पास बैठ गया। निरूपाय होकर मैं उसे उत्साहित करने के लिये बोला—"यही अच्छा रहेगा। जिससे मन प्रफुल्ल हो उठे, ऐसी कोई कहानी कहो।"

वह बोली—"सबसे मजे की बात सुनना चाहते हो तो मैं अपने जीवन की कहानी कहूँ?"

गिरजे की घड़ी में दो बजने की आवाज़ हुई।

"जब मनुष्य थी और छोटी थी तो एक व्यक्ति से यम की तरह भय करती थी। वे मेरे स्वामी थे। विवाह के दो महीने बाद मेरे स्वामी की मृत्यु हो गई और मेरे आत्मीयों

नें मेरी ओर से बहुत विलाप-प्रलाप किये। मेरे ससुर ने बहुत से लक्षण मिलाकर मेरी सास से कहा—"शास्त्र में जिसे [illegible] कहते हैं, यह लड़की वही है।"

"वह बात मुझे स्पष्ट याद है।—सुन रहे हो ? कैसी लग रही है कहानी ?"

मैंने कहा—"ठीक है। कहानी का आरम्भ तो अच्छा है।"

"तो सुनो, आनन्द से पिता के घर लौट आई। क्रमशः मेरी उम्र बढ़ी। लोग मुझ से दूर रहने की कोशिश करते। किन्तु मैं जानती थी कि मुझ जैसी रूपसी ऐसे ही जहाँ-तहाँ नहीं मिलतीं—तुम्हारी क्या राय है ?"

"खूब, संभवतः तुम ऐसी ही रही होगी। किन्तु मैंने तो तुम्हें देखा नहीं है।"

"देखा नहीं है ? क्यों, मेरा वह कंकाल ? किन्तु मैं तुमसे मजाक कर रही हूँ। यह कैसे प्रमाणित करूँ कि उन शून्य चक्षुकोटर में बड़ी-बड़ी दो काली आँखें थीं और रंगीन ओठों पर जो मृदु मुस्कान थी अब के अनावृत दन्तसार के विकट हास्य के साथ उसकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। उन कुछ अस्थियों के ऊपर इतना लालित्य, इतना लावण्य, यौवन की इतनी परिपूर्णता प्रतिदिन प्रस्फुटित हो रही थी कि तुमसे वह साफ कहते हुये मुझे हँसी भी आती है और क्रोध भी। मेरे शरीर से अस्थिविद्या सिखायी जा सकती है, यह बात उस समय बड़े-बड़े डाक्टर भी विश्वास नहीं करते थे। मैं जानती हूँ, एक डाक्टर ने अपने किसी विशिष्ट मित्र के निकट मुझे

कनकचम्पा कहा था। उसका अर्थ यह है कि पृथ्वी के और सारे मनुष्यों के देह अस्थिविद्या और शरीरतत्व के दृष्टान्त-स्थल थे, केवल मैं ही सौंदर्यरूपी फूल की तरह थी। कनक-चम्पा के भीतर क्या कोई कंकाल भी होता है?"

"मैं जब चलती थी तो ऐसा लगता था कि एक खंड हीरे को हिलाने से उसमें से जैसे ज्योती निकलती हो। मेरे देह की प्रत्येक गति में सौंदर्य की भगिमा नाना स्वाभाविक हिल्लोलें लेती हुई चारों ओर बह जातीं। मैं कभी-कभी अपने दोनों हाथों को बहुत देर तक देखती— पृथ्वी के सारे उद्धत पुरुषों के मुँह में लगाम लगाकर मधुर भाव से उस लगाम को संभालकर रखने वाले दो हाथ!

"किन्तु मेरा वह निर्लज्ज, निरावरण, निराभरण, चिरवृद्ध कंकाल मेरे विरुद्ध झूठी गवाही दे गया है। मैं तब निरुपाय, निरुत्तर थी। इसलिये पृथ्वी पर सबसे अधिक मैं तुमसे नाराज़ हूँ। मेरी इच्छा होती है कि अपना वह सोलह वर्ष का ज्वलन्त, यौवनताप से उत्तप्त आरक्त रूप तुम्हारी आँखों के सामने खड़ा कर दूँ, तुम्हारी आँखों की नींद को दूर भगा दूँ, तुम्हारी अस्थिविद्या को अस्थिर करके नष्ट दूँ।"

मैंने कहा—"तुम्हारे यदि देह होता तो उसे स्पर्श करके कहता कि वह विद्या अब मुझे याद तक नहीं है। और तुम्हारा भुवन मोहन रूप तो अंधकार के पट पर जाज्वल्य-मान होकर फूट पड़ा है। इससे अधिक नहीं कहना होगा।"

"मेरी कोई संगिनी नहीं थी। भैया प्रतिज्ञा किये थे कि ब्याह नहीं करेंगे। अन्तःपुर में मैं अकेली थी। बगीचे के

गाछ के नीचे बैठकर मैं सोचती, सारी पृथ्वी मुझ से ही प्रेम कर रही है। आकाश के तारे मुझे ही देख रहे हैं। हवा बहाना करके बार-बार दीर्घ स्वाँस फेंकती हुई चली जा रही है और जिस तृणासन पर मैं पैर रख कर बैठी हूँ उसमें यदि चेतना होती तो वह पुनः अचेतन हो जाता। पृथ्वी के सारे युवा पुरुष उन तृणपुंज के रूप में दल बाँधकर निस्तब्ध मेरे चरणवर्ती होकर खड़े हैं। इस तरह मैं कल्पना करती और हृदय अकारण ही एक वेदना का अनुभव करता।

"भैया के मित्र शशिशेखर जब मैडिकल पास करके आये तो हमारे ही घर डाक्टर हो गये। मैंने पहले भी उसे अनेक बार आड़ से देखा था। भैया अत्यन्त अद्भुत प्रकृति के थे—दुनिया को पूरी नज़रों से नहीं देखते थे। मानो दुनिया में उनके लिये स्थानभाव हो, इसलिये सरकते-सरकते एकदम प्रान्त में आकर आश्रय लिया है।

"उनके मित्रों में एक शशिशेखर ही था। इसलिये बाहर के अन्य युवकों में शशिशेखर को ही अधिक देखती थी। और जब संध्या को पुष्प तरुओं के नीचे साम्राज्ञी का आसन लेती तो पृथ्वी के सारे पुरुष मेरे सामने शशिशेखर का रूप धरकर आ जाते।—सुन रहे हो? क्या सोच रहे हो?" मैंने सनिश्वास उत्तर दिया—"सोच रहा हूँ, शशिशेखर होकर जन्म लेता तो ठीक रहता।"

"पहले सारी कहानी तो सुन लो। एक दिन बादल छाये हुये थे। उसी दिन मुझे बुखार हो गया। डाक्टर देखने आये। वही प्रथम देखना था।"

"मैं खिड़की की ओर मुँह किये हुये थी, जिससे कि संध्या की लाल आभा पड़कर मेरे खिन्न चेहरे की विवर्णता दूर कर दे। डाक्टर ने जब कमरे में आकर मेरे चेहरे की ओर देखा तो मैं मन ही मन डाक्टर बनकर अपना चेहरा देखने की कल्पना करने लगी। संध्यालोक के समय कोमल तकिये पर ईषत् क्लिष्ट कुसुमपेलव एक मुख; असंयमित चूर्ण-कुन्तल ललाट पर आकर पड़े हैं और लज्जा से आ-नमित बड़ी-बड़ी आँखों के पल्लव कपाल पर छाया विस्तार किये हुये हैं।

डाक्टर नम्र मृदुस्वर में भैया से बोले—"एक बार हाथ देखना होगा।"

"मैंने अपना क्लान्त सुकोमल हाथ बाहर निकाल दिया। एक बार अपने हाथ की ओर देखा, यदि नीले वर्ण की काँच की चुड़ियां पहने रहती तो और भी सुन्दर लगती। रोगी के हाथ की नाड़ी देखते समय डाक्टर को इतनी घबराहट कभी नहीं हुई। अत्यन्त असंगलग्न भाव से कंम्पित अंगुलियों से नाड़ी देखी। उन्होंने मेरे बुखार के उत्ताप को माप लिया, मैं भी उनके अन्तर की नाड़ी किस वेग से चल रही है उसका कुछ आभास पागई। विश्वास नहीं हो रहा है?"

मैंने कहा, "अविश्वास का कोई कारण तो नहीं देख रहा हूँ—मनुष्य की नाड़ी सर्वदा एक तरह से नहीं चलती है।"

"इसी तरह दो-चार रोग और आरोग्य पाकर मैंने देखा कि उस संध्या को मेरी मानस-सभा के करोड़ों पुरुषों की संख्या आज एकाकी में आ गई है। मेरी पृथ्वी प्रायः जनशून्य हो गई थी। वहाँ अब केवल मैं छिपकर प्रतिदिन संध्या को वासन्ती

रंग की साड़ी पहना करती थी। अच्छी तरह वेणी गूँथ कर वहाँ फूलों की माला लगाती थी और एक शीशा लेकर बगीचे में जाकर बैठ जाती थी।

"क्यों ? अपने को बार-बार देखकर भी क्या परितृप्ति नहीं होती है ? वास्तव में ऐसा ही होता है। क्योंकि मैं तो अपने-आपको नहीं देखती थी। मैं तब अकेली दो प्राणी हो जाती। मैं डाक्टर होकर अपने को देखकर मुग्ध होती, प्यार करती, स्नेह करती किन्तु भीतर ही भीतर एक दीर्घ-निश्वास संध्या की हवा की तरह बहता रहता।

"तभी से मैं अकेली नहीं थी। जब चलती तो नतनेत्रों से अपने पैर की अँगुलियों की ओर देखती और सोचती ये पद-क्षेप डाक्टर को कैसे लगते होंगे। दोपहर को सफेद चद्दर बिछाकर मैं अपना बिछौना करती और उस पर शयन करती; एक अनावृत हाथ निकाल कर सोचती, इस हाथ की यह भंगिमा मानो कोई देख पाया है, मानो किसी ने दोनों हाथों से उठा लिया है और इसके आरक्त करतल पर अपना चुम्बन रखकर धीरे-धीरे चला जा रहा है। --सोच लो कि यदि यहीं कहानी का अन्त होता हो तो कैसा रहे।"

मैंने कहा, "बुराई क्या है ? थोड़ी-सी असम्पूर्णता जरूर रह जाती है जिसे अपने मन में सोचते-सोचते बाकी रात कट जायेगी।"

"किन्तु ऐसा होने पर कहानी बहुत गम्भीर हो जाती है। इसका उपसंहार कहाँ रहेगा ?

"इसके बाद सुनो। थोड़े दिन बाद ही डाक्टर ने हमारे

मकान के नीचे तल्ले पर डाक्टर खाना खोल लिया। मैं उससे बीच-बीच में हँसते-हँसते पूछ लेती, किस तरह सहज ही में आदमी मर सकता है, कौन-सा ज़हर कैसा है इत्यादि। डाक्टरी की बात से डाक्टर का मुँह खुल जाता। उससे तरह-तरह की बातें सुनकर मृत्यु मानो परिचित आत्मीय की तरह हो गई। प्रेम और मृत्यु—बस, इन्हें ही पृथ्वीमय देखती थी।

"मेरी कहानी प्रायः शेष हो आई है, अब अधिक नहीं है।"

मैंने धीरे से कहा—"रात भी अब अधिक नहीं है।"

"कुछ दिनों से मैंने देखा—कि डाक्टर अन्यमनस्क रहते और उदास भी। एक दिन देखा, उन्होंने सज-धज़ कर भैया से उनके उपानह उधार लिये, रात को कहीं जायेंगे।"

"मैं रह नहीं सकी। भैया के पास जाकर बहुत-सी बातों के बाद पूछा—'भैया डाक्टर बाबू आज कहाँ जा रहे हैं?"

"भैया ने संक्षेप में कहा—'मरने।"

"मैंने कहा—'नहीं, सच बताओ न।'

"उन्होंने पहले से थोड़ा साफ़ कहा—'विवाह करने।'

"मैंने कहा—'सच।' और हँसने लगी।'

"धीरे-धीरे मालूम हुआ कि इस विवाह से डाक्टर को बारह हजार रुपये मिलेंगे।

"किन्तु मुझसे यह बात छिपाकर मेरा अपमान करने का क्या अर्थ होता है। मैं क्या उसके पैरों पर गिर यह बोली थी कि ऐसा करने से मैं मर जाऊँगी। पुरुषों का विश्वास नहीं

किया जा सकता। पृथ्वी पर मैंने केवल एक ही पुरुष को देखा है और एक मुहूर्त्त में उनके बारे में सब कुछ जान लिया है।

"डाक्टर रोगी को देखकर संध्या को लौट आये तो मैंने हँसते-हँसते कहा—'क्या डाक्टर जी, आज आपकी शादी है?'

"मेरी हँसी देखकर डाक्टर केवल हतबुद्धि ही नहीं विवर्ण भी हो गये।

"मैंने पूछा, बाजा-गाजा कुछ नहीं है?

"सुनकर उन्होंने ईषत् स्वाँस लेकर कहा—'ब्याह का मामला इतना आनन्द का थोड़े ही है।'

"सुनकर मैं हँसती-हँसती लोट-पोट हो गई। ऐसी बात तो कभी नहीं सुनी। मैं बोली—'यह नहीं होगा, बाजा और रोशनी ज़रूर चाहिये।'

"मैंने तब भैया को इतना अस्थिर कर दिया कि वे सम्पूर्ण उत्सव का आयोजन करने लगे।

"मैं केवल बातें करती रही कि बहू आयेगी तो क्या करूँगी, इत्यादि। डाक्टर से पूछा—'अच्छा, डाक्टर साहब, तब भी क्या आप रोगियों को नाड़ी देखते फिरेंगे।'

"यद्यपि मनुष्य का मन दृष्टिगोचर नहीं होता फिर भी मैं सौगंध खाकर कह सकती हूँ कि ये शब्द डाक्टर के हृदय में सेल की तरह चुभे थे।

"लग्न रात में था। संध्या के समय छत पर भैया के साथ डाक्टर थोड़ा मद्यपान कर रहा था। दोनों को ही इसका अभ्यास था। धीरे-धीरे आकाश में चाँद उदित हो रहा था।

"मैंने हँसते-हँसते कहा, भूल गये क्या डाक्टर साहब, यात्रा का समय जो हो गया।'

"यहाँ सामान्य कुछ कहना आवश्यक है। इस बीच छिप कर डाक्टरखाने से थोड़ा-सा पावडर उठा लाई थी। वही पावडर मैंने डाक्टर के गिलास में अलक्षित रूप से मिला दिया था। कौन-सा पावडर खाने पर आदमी मर जाता है, यह मैं डाक्टर से सीख चुकी थी।

"डाक्टर एक घूँट में गिलास खाली करके किञ्चित आर्द्र गद्-गद् कण्ठ से मेरी ओर मर्मान्तिक दृष्टिपात करके बोले—'तो, चलता हूँ।'

"बंसी बजने लगी। मैंने बनारसी साड़ी और सारे गहने पहनकर माँग में सिंदूर भरा। वकुलतला में जाकर बिछौना बिछाया।

"बड़ी सुन्दर रात थी। परिपूर्ण चाँदनी। सुप्त जगत की क्लान्ति हरण करके दक्षिण हवा बह रही थी। फूलों की गन्ध से सारा बगीचा सुगंधित था।

"बंसी का शब्द जब दूर चला गया, चाँदनी जब अंधकार में डूब गई, पृथ्वी जब माया की तरह अदृश्य होने लगी तो मैं नेत्र निमीलन करके हँसी थी।

"इच्छा थी कि लोग आकर अब देखेंगे तो यह हँसी रंगीन नशे की तरह मेरे ओठों पर रहेगी। इच्छा थी कि जब मैं अनन्त रात्रि के वासर घर में धीरे-धीरे जाऊँगी तब भी यह हँसी ओठों पर ले जाऊँगी। किन्तु, कहाँ वह वासर-घर, कहाँ वह मेरा विवाह का वेश! अपने भीतर खट्खट्

आवाज़ सुनकर जागकर देखा, मुझे लेकर तीन बालक अस्थि-विद्या सीख रहे हैं। हृदय का वह स्थान जहाँ सुख दुःख धक्-धक् किया करते थे और यौवन की कलि खिलती थी, वहाँ बेत निर्देश करके किसी अस्थि का नाम मास्टर सिखा रहा था। और वह वह अन्तिम हँसी जो ओठों पर थी उसका क्या कोई चिह्न भी देखा था।· · ·

"कहानी कैसी लगी ?"

मैंने कहा, "कहानी बहुत अच्छी है।"

इसी समय पहला कौवा बोला। मैंने पूछा, "अब भी हो क्या ?" कोई उत्तर नहीं मिला। प्रभात के आलोक ने घर के भीतर प्रवेश किया।

: ३ :

समस्या का अन्त

झिकड़ा कोटे के कृष्णगोपाल सरकार अपने बड़े लड़के को जमींदारी और परिवार का भार देकर काशी चले गये। गाँव के जितने अनाथ, दरिद्र लोग थे वे सभी उनके लिये रोने लगे। ऐसे धर्मात्मा और दानी कलियुग में बिरले हैं, यही बात सभी लोग कहने लगे।

उनके पुत्र विपिन बिहारी आधुनिक शिक्षित बी.ए. हैं। वे दाढ़ी रखते हैं, चश्मा लगाते हैं, किसी के साथ अधिक मिलते-जुलते नहीं हैं। वे अतिशय सच्चरित्र हैं—यहाँ तक कि तम्बाकु भी नहीं पीते, ताश भी नहीं खेलते। उनका चेहरा अत्यन्त भले आदमी जैसा ही है किन्तु बहुत कड़े स्वभाव के हैं।

उनकी प्रजा ने शीघ्र ही यह बात अनुभव की। वृद्ध जमींदार को किसी भी तरह भुलावा दिया जा सकता था किन्तु इनके पास किसी भी बहाने लगान का एक पैसा भी माफ होने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। निर्दिष्ट दिन के एक दिन इधर-उधर होने का भी उपाय न था।

विपिन बिहारी ने जमींदारी का काम संभाल कर देखा कि उसके पिता ने बहुत से ब्राह्मणों को बिना लगान के भूमि दे रखी है। कितने लोगों का लगान कम कर दिया है उसका

हिसाब ही नहीं है। उनके पास कोई यदि किसी वस्तु की प्रार्थना करता तो वे उसे वह वस्तु दिये बिना नहीं रह सकते थे, यह उनका स्वभाव था।

विपिन बिहारी बोले—"यह कभी नहीं हो सकता; मैं आधी जमींदारी खिराज पर नहीं छोड़ सकता।" उनके मन में निम्न दो युक्तियों का उदय हुआ। प्रथमतः—जो लोग निकम्मों की तरह घर पर बैठकर जमीन का उपस्वत्व भोग करके स्फीत हो रहे हैं वे अधिकांश दया के अयोग्य हैं और ऐसा दान देने में केवल आलस्य को ही आश्रय देना होगा।

दूसरी बात यह है कि उनके पितृ-पितामह के समय की अपेक्षा आजकल जीविका अत्यन्त दुर्लभ और दुर्मूल्य हो चुकी है। अभाव बढ़ गये हैं। आजकल भद्र भाव से आत्मसम्भ्रम बचाकर चलने में पहले से चार गुणा खर्चा पड़ता है। अतः उनके पिता ने जिस प्रकार निश्चिन्तता से दोनों हाथों से लुटाया है वैसा अब नहीं किया जा सकता, अब तो गई हुई चीजों को लौटाने की चेष्टा करना ही कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्य-बुद्धि ने उनसे जो कहा वे वही करने लगे। वे एक 'प्रिन्सपल' पकड़कर चलने लगे।

घर से जो निकल चुका था वह पुनः धीरे-धीरे लौटने लगा। पिता के बहुत थोड़े दान को ही पूर्ववत् रखा; और जो रखा वह भी चिरस्थायी दान का रूप ग्रहण न करे इसकी व्यवस्था उन्होंने कर दी।

कृष्णगोपाल काशी में रहकर पत्र द्वारा प्रजा की क्रन्दन-ध्वनि सुन रहे थे—कोई कोई काशी में उनके पास जाकर रोने

लग जाते । कृष्णगोपाल ने विपिन बिहारी को पत्र लिखा कि यह काम ठीक नहीं है ।

विपिन बिहारी ने उत्तर लिखा—'पहले जैसे दान किया जा सकता था उसी तरह ऊपर की आय भी नाना तरह से होती थी । उस वक्त जमींदार और प्रजा के बीच दान-प्रतिदान का सम्बन्ध था । किन्तु आजकल नये-नये कानून बने हैं जिस से केवल लगान को छोड़कर और कुछ नहीं लिया जा सकता । अतः आजकल के दिनों में मैं अपने प्राप्य की ओर कड़ी दृष्टि न दूँ तो क्या रहेगा ? अब प्रजा मुझे अतिरिक्त कुछ नहीं देगी, मैं भी प्रजा को अतिरिक्त कुछ नहीं दूँगा—अब हम लोगों में लेन-देन का हिसाब रह गया है । दान करते रहने पर फकीर हो जाना पड़ेगा; सम्पत्ति की रक्षा और कुल मर्यादा की रक्षा करना कठिन हो उठेगा ।'

कृष्णगोपाल समय के इतने परिवर्तन पर अत्यन्त चिन्तित होकर सोचते—'आजकल के लड़के आजकल के उपयुक्त काम कर रहे हैं, हमारा पुराना कानून अब नहीं चलेगा । मैं दूर बैठा यदि हस्तक्षेप करूँगा तो वे कहेंगे, 'तुम्हारी सम्पत्ति तुम संभालो, हम इसे नहीं सँभाल सकते !' क्या जरूरत है मुझे ! जिन्दगी के बाकी दिन हरिनाम करके कट जायँ तो ही बहुत कुछ है ।

(२)

इस तरह बहुत से मामले-मुकदमे के बाद विपिन बिहारी ने प्रायः सारी जमींदारी अपने अधीन कर ली । बहुत से लोग

डर से ही विपिन बाबू को मानने लगे, किन्तु मिर्जा बीबी का पुत्र अछिमद्धि विश्वास किसी तरह भी विपिन बाबू को नहीं मानता था।

विपिन बिहारी का आक्रोश भी उसी पर अधिक था। ब्राह्मण के ब्रह्मत्व का एक अर्थ होता है किन्तु यह मुसलमान-सन्तान किस प्रकार इतनी सम्पत्ति भोग कर रहा है, यह विपिन बिहारी न समझ सके और एक साधारण यवन गाँव की स्कूल में थोड़ा लिखना-पढ़ना सीख गया तो किसी की परवाह ही नहीं करता है।

विपिन पुराने कर्मचारियों से जान पाये कि बड़े जमींदार के समय से ही इन्हें अनुग्रह मिलता आया है। किन्तु इस अनुग्रह का विशेष कारण वे निर्णय नहीं कर सके। संभवतः विधवा ने अपना दुखड़ा सुनाकर वृद्ध जमींदार को वशीभूत कर लिया था।

किन्तु विपिन इस अनुग्रह को अनुचित मानते थे। विशेषतः इनकी दरिद्र दशा विपिन ने नहीं देखी थी, अब इन की स्वच्छन्दता देखकर विपिन यह सोचते कि इन्होंने उनके वृद्ध पिता को ठग लिया है।

अछिमद्धि उद्धत प्रकृति का युवक था। वह बोला—"प्राण चले जाएँ पर अपना अधिकार एक तिल भी नहीं छोड़ूंगा।"

अछिमद्धि की मां ने बार-बार समझाया कि इतने दिन जिनके अनुग्रह पर जीवित रहे हैं उनसे बैर करना ठीक नहीं है। उनके अनुग्रह पर ही रहना उचित है—जमींदार जब कह रहे हैं तो थोड़ा-सा अधिकार छोड़ देने में कोई हर्ज नहीं है।

अछिमद्धि बोला—"तुम यह सब नहीं समझोगी।"

मुकदमे में अछिमद्धि धीरे-धीरे हारने लगा। किन्तु जैसे-जैसे हार रहा था वैसे ही उसकी जिद्द भी बढ़ रही थी। अपने सर्वस्व के लिये उसने सर्वस्व व्यय का प्रण कर लिया।

मिर्जा बीबी एक दिन शाम को अपने बगीचे की कुछ साग-सब्जी लेकर छिपकर विपिन बिहारी से मिलने गई। वृद्धा मानो अपनी सकरुण मातृदृष्टि द्वारा विपिन के सर्वांग में हाथ फेरकर बोली—"अल्ला तुम्हारा भला करे बेटा। अद्दिम का अहित मत करो, इसमें तुम्हारा धर्म नहीं है। उसे मैं तुम्हारे हाथ ही सौंपती हूँ—उसे नितान्त अवश्य पालने योग्य एक अकर्म्मण्य छोटे भाई की तरह ग्रहण करो—उसे तुम्हारे असीम ऐश्वर्य का एक कण मिला है, इससे तुम उस पर रुष्ट मत होना बेटा।"

वृद्धा की यह प्रगल्भता विपिन को अच्छी नहीं लगी। बोले, "तुम स्त्री हो, यह सब नहीं समझोगी। यदि कुछ कहना है तो अपने बेटे को भेज देना।"

मिर्जा बीबी ने अपने बेटे से और विपिन से भी यही सुना कि वह इस विषय में कुछ नहीं जानता है। अल्ला का नाम लेती लेती विधवा आँखें पोंछती हुई घर चली गई।

(३)

मुकदमा फौजदारी कोर्ट से दीवानी कोर्ट, जिले की अदालत की हाईकोर्ट तक चला। डेढ़ वर्ष तक मामला चलता रहा। अछिमद्धि जब ऋण में आकण्ठ डूब गया तो अदालत

में उसकी आंशिक जीत हुई। किन्तु बाघ के मुँह से जितना बचा, पानी के मगर ने उसे छीन लिया। कर्ज़दारों ने डिग्री जारी कर दी। अछिमद्धि की सारी सम्पत्ति नीलाम होने की तारीख स्थिर हो गई।

उस दिन सोमवार था, हाट का दिन। नदी के तीर पर बजार लगता था। वर्षाकाल में नदी भरी हुई है। कुछ लोग नाँव से, कुछ लोग पैदल बाजार में लेन-देन कर रहे हैं। अषाढ़ के महीने में कटहल काफी आया है। आकाश में बादल छाये हुये हैं;बहुत से लोगों ने वर्षा की संभावना देखकर खूँटी लगाकर उस पर कपड़ा बाँध दिया है। अछिमद्धि भी बाजार करने आया है—किन्तु साथ में एक भी पैसा नहीं है। आज-कल उसे कोई उधार भी नहीं देता। वह एक कटोरी और एक पीतल की थाली लेकर आया है, उन्हें बंधक रख कर उधार लेगा।

विपिन बाबू शाम को हवाखोरी के लिये निकले हैं। साथ में दो-तीन लठैत भी हैं। कलरव से आकर्षित होकर वे बाजार देखने के लिये इच्छुक हुये।

बाजार के भीतर जाकर विपिन बाबू द्वारी कलू से उसके आय-व्यय का हिसाब पूछ रहे थे कि ऐसे समय अछिमद्धि कटोरी उठाकर शेर की तरह गरजता हुआ विपिन बाबू की ओर दौड़ पड़ा। हाट के लोगों ने बीच ही में उसे पकड़कर निरस्त्र कर दिया—अविलम्ब पुलिस के हाथ उसे सौंप भी दिया गया। बाजार में लेद-देन पूर्ववत् चलने लगा।

विपिन बाबू इस घटना से खुश नहीं हुए, ऐसी बात नहीं

थी। हम जिसका शिकार करना चाहते हैं वही पंजा उठाकर मारने आने लगे हो उसकी यह बे-जाब्तगी और बे-अदबी किसी तरह भी बर्दाश्त नहीं की जा सकती। जो भी हो, जैसा कर्म वैसा फल !

विपिन की अन्तःपुर की स्त्रियाँ आज की घटना सुनकर कण्टकित होकर बोलीं—"अरी माँ, कितना हरामजादा और दुष्ट है।"

उसके उचित दण्ड की सम्भावना से उन्हें सान्त्वना मिली।

इधर सन्ध्या के समय विधवा के अन्नहीन, पुत्रहीन गृह में मृत्यु के अपेक्षा भी घोर अन्धकार उतर पड़ा। इस घटना को सभी भूल गये। केवल एक वृद्धा के निकट पृथ्वी की सारी घटनाओं में आज की घटना सर्वापेक्षा वृहत् हो उठी। किन्तु इसके साथ युद्ध करने के लिये सारी पृथ्वी पर उसका कोई नहीं है, केवल दीप-हीन कुटीर के प्रान्त पर जीर्णअस्थि और एक हतश्वास भीत हृदय था।

(४)

इस बीच तीन दिन कट गये। कल डिप्टी मैजिस्ट्रेट की अदालत में विचार का दिन है। विपिन को भी गवाही देने के लिये जाना पड़ेगा। इसके पहले जमींदार को कभी भी साक्ष्य-मञ्च पर खड़ा नहीं होना पड़ा था। किन्तु विपिन को इसमें आपत्ति नहीं है।

दूसरे दिन यथासमय पगड़ी बाँधकर, घड़ी की चेन झुलाकर, पालकी पर चढ़कर विपिन अदालत में गवाही देने

के लिये गये। अदालत में आज बहुत भीड़ थी। ऐसा मामला बहुत दिनों से पेश नहीं हुआ था।

अब मुकदमे की सुनाई में अधिक विलम्ब नहीं था तो एक लठैत ने आकर विपिन बाबू के कान में कुछ कहा—सुनकर वे उठकर बाहर चले गये।

बाहर आकर देखा, कुछ दूर पर बड़ के पेड़ के नीचे उसके वृद्ध पिता खड़े हैं। नंगे पैर, तन पर नामावली अंकित एक चद्दर, हाथ में हरिनाम की माला, कृश देह, मानो स्निग्ध ज्योतिर्मय हैं। उनके ललाट से एक शान्त करुणा विश्व में विकीर्ण हो रही है।

विपिन ने कोट-पतलून पहनी हुई अवस्था में बड़े कष्ट से अपने पिता को प्रणाम किया। इससे उनकी पगड़ी नीचे की ओर सरक आई, घड़ी जेब से निकलकर बाहर आ गई। उन्हें जल्दी से ठीक करके पिता को निकटवर्ती वकील के घर में जाने के लिये कहा।

कृष्णगोपाल बोले—"नहीं, मेरा जो वक्तव्य है वह यहीं कहूँगा।"

विपिन के लठैतों ने कुतूहली लोगों की भीड़ को दूर किया।

कृष्णगोपाल बोले—"अछिम को जिससे मुक्ति मिले उसकी व्यवस्था करनी होगी और उसकी जो सम्पत्ति तुमनें छीनी है, वह लौटा देना।"

विपिन ने विस्मित होकर कहा, "इसी के लिये आप काशी से इतनी दूर आये हैं? उस पर इतना अनुग्रह किस-

लिये है ?"

कृष्णगोपाल बोले—"वह सुनकर तुम्हें क्या फायदा होगा।"

विपिन बोले—"अयोग्यता का विचार करके कितनों का दान लौटा लिया है, कितने ही ब्राह्मण भी इनमें थे, किन्तु उनके लिये आपने हस्तक्षेप नहीं किया—और आज इस सामान्य यवन सन्तान के लिये इतना कष्ट किया ! आज इतना करने के बाद यदि अछिम को खलास करवाना पड़े और सम्पत्ति लौटानी पड़े तो लोग क्या कहेंगे ?"

कृष्णगोपाल कुछ देर तक चुप रहे। अन्त में उत्कम्पित अंगुलियों से माला फेरते हुए बोले—"लोगों को यदि सब कुछ खोलकर कहना चाहते हो तो कह देना कि अछिमद्धि तुम्हारा भाई लगता है, मेरा पुत्र है।"

विपिन चौंककर बोले—"यवनी के गर्भ से !"

कृष्णगोपाल बोले—"हाँ।"

विपिन बहुत देर तक स्तब्ध खड़े रहे। फिर बोले—"ये सब बातें पीछे होंगी, अभी आप घर चलिये।" कृष्णगोपाल बोले—"नहीं, मैं तो अब घर में पैर नहीं रखूंगा। मैं यहाँ से लौटकर जा रहा हूँ। अब तुम्हारे धर्म के अनुसार जो उचित समझो करो।" यह कहकर आशीर्वाद देकर कृष्णगोपाल चले गये।

विपिन क्या कहें, क्या करें कुछ सोच नहीं पाये। चुप खड़े रहे। किन्तु इतना उनके मन में जरूर उदय हुआ कि उस काल की धर्मनिष्ठा ऐसी ही थी। शिक्षा और चरित्र में अपने को अपने पिता से बहुत ऊँचा समझ रहे थे। स्थिर

किया कि यह सब एक प्रिंसिपल न रहने का नतीजा है।

अदालत में जब लौटकर आये तो पहरेदारों के बीच शीर्ण, क्लिष्ट, शुष्क, श्वेत—ओष्ठाधर दीप्त-नेत्र अछिम खड़ा है। वह विपिन का भाई है।

डिप्टी मैजिस्ट्रेट से विपिन की मित्रता थी। मुकदमा एक प्रकार की खिचड़ी पकाकर ठप हो गया। अछिम भी थोड़ी ही दिनों में पूर्वावस्था में लौट गया। किन्तु इसका कारण वह नहीं समझ सका। अन्य लोग भी आश्चर्य-चकित हो गये।

मुकदमे के वक्त कृष्णगोपाल आये थे, यह बात सब लोग जान गये। लोगों में काना-फूसी होने लगी। सूक्ष्मबुद्धि वकील सारा मामला समझ गये। रामशरण वकील को कृष्णगोपाल ने अपने पैसों से लिखाया-पढ़ाया था। वह बराबर सन्देह करता था, किन्तु इतने दिनों बाद सम्पूर्ण रूप से समझ सका कि अच्छी तरह से ढूंढ़ने पर सभी साधु पकड़े जा सकते हैं। दुनिया में साधु और असाधु में सिर्फ इतना ही फर्क है कि साधु कपटी होते हैं और असाधु अकपट होते हैं। जो भी हो, कृष्णगोपाल की जगत् विख्यात दया, धर्म और महत्व सिर्फ कपट था, यह सोचकर रामशरण की एक दुर्बोध समस्या का समाधान हुआ और न जाने किस युक्ति के अनुसार कृतज्ञता का बोझ भी मानो उसके कन्धों से उतर गया।

: ४ :

ताश का देश

दूर, समुद्र के बीच, एक द्वीप है। वहाँ केवल ताश का बादशाह, ताश की बीबी, ताश का इक्का और ताश के गुलाम का राज्य है। दुग्गी, तिग्गी से लेकर नहला, दहला तक के और भी अनेक गृहस्थों का वास है किन्तु वे उच्चजाति के नहीं हैं। इक्का, बादशाह और गुलाम ये प्रधान वर्ण हैं; नहला-दहला अन्त्यज हैं, ये इनके साथ एकत्र नहीं बैठ सकते। किन्तु इसमें आश्चर्यजनक शृंखला नहीं है। किसकी क्या मर्यादा है यह बहुत पहले से ही स्थिर हो चुका है, एक रत्ति इधर-उधर नहीं हो सकती। सभी अपना-अपना नियमित काम करते जाते हैं—वंशानुक्रम से पूर्ववर्ती लोगों के पदचिन्हों का अनुसरण।

उनका काम विदेशी के लिये समझना एक टेढ़ी-खीर है। पहले तो खेल जैसा लगेगा। केवल नियम से चलना, नियम से बैठना, नियम से उठना। अदृश्य हस्त से नियंत्रित होकर चलते हैं। उनके चेहरे पर किसी तरह का भाव परिवर्त्तन नहीं होता है। चिरकाल से एक ही भाव की छाप लगी हुई है, मानो आँखें फाड़-फाड़ कर देखती हुई कोई तस्वीर हो। बाबा आदम के जमाने की टोपी और जूतों में भी कोई फर्क नहीं आया है।

कभी भी किसी को चिन्ता नहीं करनी पड़ती है, विवेचना

नहीं करनी पड़ती है; सभी कोई निर्जीव भाव से चलते-फिरते हैं; गिरते वक्त निःशब्द गिर जाते हैं और अविचलित मुखश्री को लिये हुये चित्त होकर आकाश की ओर देखते हैं।

किसी को कोई आशा, अभिलाषा नहीं हैं, डर नहीं है, चेष्टा नहीं है, विद्या नहीं है। पिंजड़े के भीतर जैसे पक्षी छटपटाता है, इन चित्रवत् मूर्त्तियों के अन्तःकरण में किसी जीवित प्राणी के अशान्त पश्चात्ताप के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते हैं। परन्तु एक समय इन पिंजड़ों में जीव रहते थे—तब पिंजड़ा हिलता था और भीतर से डैनो का शब्द और गीत सुनाई देता था, गंभीर अरण्य और आकाश की बात तब याद आती थी।

अब केवल पिंजड़े की संकीर्णता और सुश्रृंखल श्रेणी-विन्यस्त लौहछड़ों को ही अनुभव किया जा सकता है—पक्षी उड़ा है या जीवन्मृत पड़ा है, यह कौन कह सकता है?

आश्चर्य की स्तब्धता और शान्ति है। परिपूर्ण आराम और सन्तोष है। रास्ते में, घाट में, घर में सभी स्थान पर सभी लोग सुसंयत और सुविहित हैं—कहीं कुछ शब्द नहीं, द्वन्द्व नहीं, उत्साह नहीं, आग्रह नहीं, केवल नित्य-नैमित्तिक क्षुद्र काम है और क्षुद्र विश्राम है।

समुद्र ने अपनी अविश्राम सुरतान से,तट पर सहस्रों फेन-शुभ्र कोमल करतलों के आघात से सारे द्वीप को मीठी नींद से आच्छन्न कर रखा है—पक्षी माता के फैले हुए नीलपंखों की तरह आकाश दिग्दिगन्त की शान्ति रक्षा कर रहा है। बहुत दूर,उस पार गहरी नीलरेखा की तरह विदेश का आभास दीख रहा है, वहाँ से राग-द्वेष का द्वन्द्व-कोलाहल समुद्र को पार

करके नहीं आ सकता।

(२)

समुद्र के उस पार उस विदेश में एक दुखिया रानी का लड़का एक राजपुत्र रहता है। वह अपनी मां के साथ समुद्र के किनारे अपनी धुन में बाल्य-जीवन बीता रहा है।

वह अकेला बैठा मन ही मन एक अत्यन्त वृहत् अभिलाषा का जाल बुन रहा है। उस जाल को दिग्दिगन्तरों में फैलाकर कल्पाने से विराट् जगत् के नये-नये रहस्यों का संग्रह करके अपने द्वार के सामने इकट्ठा कर रहा है। उसका अशान्त चित्त समुद्र के तीर पर आकाश की सीमा पर उस दिग्न्त-रोधी नील पर्वतमाला के उस पार सर्वदा विचरण करता फिरता है—ढूंढना चाहता है पक्षीराज कि घोड़ा कहाँ है, कहाँ है सर्प की मणि, कहाँ है पारिजात पुष्प, सोने और चाँदी की लकड़ी, कहाँ सात समुद्र, तेरह नदी के उस पार दुर्गम दैत्य भवन में स्वप्नसंभवा आलोक सुन्दरी राजकुमारी सो रही है ?

राजपुत्र पाठशाला में पढ़ने जाता है, पढ़ाई से छुट्टी पाकर सौदागर के पुत्र से देश-विदेश की बातें और कोतवाल के पुत्र से ताल-बेताल की कहानी सुना करता है।

रिमझिम-रिमझिम पानी बरसता, मेघ से अंधकार हो जाता तो गृहद्वार पर मां के पास बैठकर राजकुमार समुद्र की ओर देखकर कहता,—मां, खूब दूर देश की कोई कहानी सुनाओ।" मां बहुत देर तक अपने बचपन में सुनी हुई किसी अपूर्व देश की अपूर्व कहानी सुनाती। मेंह के झर-झर शब्दों

के साथ उस कहानी को सुनकर राजपुत्र का हृदय उदास हो जाता।

एक दिन सौदागर के पुत्र ने राजपुत्र से कहा—"भाई, पढ़ाई तो खत्म कर चुका हूँ, अब देश-भ्रमण के लिए जाऊँगा, तभी तुम से विदा लेने आया हूँ।"

राजा के पुत्र ने कहा—"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।"

कोतवाल का पुत्र बोला—"मुझे क्या अकेला ही छोड़ जाओगे ? मैं भी तुम लोगों का साथी हूँ।"

राजपुत्र दुखिया मां के पास जाकर बोला—"मां, मैं देश-भ्रमण के लिए जा रहा हूँ—अब तुम्हारा दुःख दूर करने का उपाय करके आऊँगा।"

तीनों बन्धु देश-भ्रमण के लिये निकल पड़े।

(३)

समुद्र में सौदागर की द्वादश नावें तैयार थीं। तीनों उन पर चढ़ गये। दक्षिण की हवा से पाल भर गये, नावें राजपुत्र की हृदय-वासना की तरह दौड़ने लगीं। शंखद्वीप में जाकर एक नाव शंख से, चंदन द्वीप में जाकर एक नाव चंदन से, प्रवाल द्वीप में जाकर एक नाव प्रवालों से भरी।

इसके बाद और चार वर्षों में गजदन्त, कस्तूरी, लौंग और जायफल से चार नावें और भरीं, तब सहसा एक भारी तूफान आया।

सारी नावें डूब गईं, केवल एक नाव जिसमें तीन बन्धु थे एक द्वीप से जाकर टकराई और खुद टुकड़े-टुकड़े हो गई।

इस द्वीप में ताश का इक्का, ताश का बादशाह, ताश की बेगम, ताश का गुलाम यथानियम रहते हैं और दहला-नहला आदि भी उनकी सेवा करते हुए यथानियम दिन काटते हैं।

ताश के राज्य में अब तक कोई उपद्रव नहीं था। अब पहली बार गड़बड़ी हुई।

इतने दिनों बाद यह पहली बार तर्क उठा––ये तीन आदमी जो सहसा एक दिन शाम को समुद्र से निकल कर आये हैं, इन्हें कौन-सी श्रेणी में रखा जाय।

पहले तो यह सोचना है कि इनकी जाति क्या है––इक्का बादशाह, गुलाम या नहला-दहला ?

फिर यह सोचना है कि इनका गोत्र क्या है—हुक्म, चिड़ी पान या ईंट ?

इन बातों के बिना सुलझे इनके साथ किसी तरह का व्यवहार करना ही मुश्किल है। ये लोग किसका अन्न खायेंगे, किसके साथ रहेंगे––इनमें अधिकार-भेद से कौन वायुकोण में, कौन नैऋतकोण में; कौन ईशान कोण में सिरहाना करके सोयेगा और कौन खड़ा खड़ा सोयेगा, इन सब बातों का कुछ भी निर्णय नहीं होता।

इस राज्य में इतनी बड़ी विषम दुश्चिन्ता का कारण इससे पूर्व कभी नहीं आया था।

किन्तु क्षुधा-कातर तीनों विदेशी बन्धुओं को इन सब गहन मामलों की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उन्हें किसी तरह आहार मिल जाय तो प्राण बचें। जब देखा कि सभी लोग आहारादि देने में संकोच कर रहे हैं और कानून ढूँढने

के लिए इक्कों ने विराट सभा बुलाई है तो वे जिसे जहाँ जो खाद्य मिला, खाने लगे।

यह देखकर दुग्गी, तिक्की तक दंग रह गईं। तिक्की बोली—"बहन दुग्गी, इन्हें कोई परहेज का विचार नहीं है।" दुग्गी बोली, "बहन, इससे तो साफ मालूम पड़ता है कि ये लोग हम से भी नीच जाति के हैं।"

भोजन करके तृप्त होकर तीनों मित्रों ने देखा, यहाँ के लोग कुछ नये ढंग के हैं। मानो जगत में कहीं भी इनकी जड़ नहीं है। मानो इनकी चोटी किसी ने उखाड़ ली है और ये एक तरह से हतबुद्धि होकर जगत् का सम्पर्क त्याग कर झूमते हुए घूम रहे हैं। ये जो कुछ भी करते हैं, वह मानो कोई दूसरा करवा रहा है। इनका हाल ठीक पुतली-नाच की झूलती हुई पुतलियों जैसा है। तभी किसी के मुँह पर कोई भाव नहीं, चिन्ता नहीं, सभी गम्भीर भाव से, यथानियम से चल-फिर रहे हैं। फिर भी, यह सब मिलकर अत्यन्त अद्भुत लगता है।

चारों ओर इस जीवित निर्जीविता की गम्भीरता को देख कर राजपुत्र आकाश की ओर मुँह उठाकर ज़ोर से हँस पड़ा। इस आन्तरिक कौतुक की उच्च हास्यध्वनि ताश-राज्य के सुनसान रास्तों में बड़ी विचित्र सुनाई पड़ी। यहाँ के सभी लोग इतने प्राचीन, इतने सुगम्भीर हैं कि कौतुक अपने अकस्मात निकले हुए उच्छृङ्खल शब्दों से स्वयं ही चकित होकर बुझ गया—चारों ओर का लोक-प्रवाह पहले से कहीं दूना स्तब्ध और गम्भीर लगने लगा।

कोतवाल का पुत्र और सौदागर का पुत्र व्याकुल होकर राजपुत्र से बोले–"भाई, इस निरानन्द्र भूमि पर एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता। यहाँ और दो दिन रहने पर बीच-बीच में अपने को स्पर्श करके देखना पड़ेगा कि जिन्दा हूँ या नहीं।"

राजपुत्र बोला–"नहीं भाई, मुझे कुतूहल हो रहा है। ये लोग देखने में आदमी जैसे लगते हैं––इनमें एक बूँद भी जीवित पदार्थ है या नहीं, एक बार हिला-डुला कर देखना चाहता हूँ।"

(४)

इसी तरह तो कुछ समय बीता, किन्तु तीनों विदेशी युवक किसी भी नियम के जाल में नहीं आये। वहाँ जब जिस समय उठना, बैठना, मुँह फेरना, औंधे होना, चित्त होना, सिर हिलाना, कलाबाजी खाना चाहिये, ये उनमें से कुछ नहीं करते; उल्टे सकौतुक देखकर हँसते। इन सब यथा विदित अशेष क्रिया-कलापों में कोई महान् गम्भीरता है, ये लोग उसके द्वारा अभिभूत नहीं होते।

एक दिन इक्का, बादशाह और गुलाम ने आकर, फूटे बासन की तरह बजकर बड़ी गम्भीरता से राजपुत्र, कोतवाल और सौदागर के पुत्र से पूछा–"तुम लोग नियम के अनुसार क्यों नहीं चलते?"

तीनों बन्धुओं ने कहा–"हमारी इच्छा।"

ताश-राज्य के तीनों अधिनायकों ने आश्चर्य से, स्वप्नाभिभूत की तरह कहा–"इच्छा! वह ससुरी कौन है?"

इच्छा क्या है, यह बात वे नहीं समझ सके, किन्तु धीरे-धीरे समझ गये। प्रतिदिन वे देखने लगे कि इस तरह न चल कर उस तरह चलना भी सम्भव है। जैसे इधर है, वैसे उधर भी है—विदेश से तीन जीवित दृष्टान्तों ने आकर समझा दिया कि नियम के भीतर ही मनुष्य की सम्पूर्ण स्वाधीनता सीमावद्ध नहीं है। इस तरह वे इच्छा नामक एक राज-शक्ति का प्रभाव अस्पष्ट रूप से अनुभव करने लगे।

उसका ज्यों ही अनुभव हुआ, त्योंहीं ताश-राज्य थोड़ा-थोड़ा आन्दोलित होने लगा—जैसे सोये हुए विशाल अजगर की बहुत सी कुंडलियों के भीतर जागरण अति मन्दगति से संचालित रहता है।

(५)

निर्विकारमूर्त्ति बेगमों ने आज तक किसी की ओर दृष्टिपात नहीं किया था, चुपचाप निरुद्विग्न रूप से अपना काम करती आईं थीं। अब एक दिन वसन्त की संध्या को इनमें से एक ने अपनी घनकृष्ण वरूनियों को ऊपर उठाकर चकित की तरह राजपुत्र की ओर मुग्ध नेत्रों का काटक्षपात किया। राज-पुत्र चौंक उठा। बोला, "आश्चर्य! मैं तो जानता था कि ये मूर्त्तिवत हैं, मैं ग़लत समझा—यह तो रमणी है।"

कोतवाल के पुत्र और सौदागर के पुत्र को एकान्त में ले जाकर राजपुत्र बोला—"भाई, इसमें तो बड़ा माधुर्य है। उसके उस नवीन भाव से दीप्त कृष्णनेत्रों के प्रथम कटाक्ष से मुझे ऐसा लगा, मैंने मानो किसी नये जगत में प्रथम उषा का

प्रथम उदय देखा है। इतने दिनों से जो यहाँ रह रहा हूँ आज वह सार्थक हुआ।"

दोनों बन्धुओं ने परम कुतूहल के साथ हँसते हुए कहा—"सचमुच?"

वह अभागिन पान की बेगम आये दिन नियम भूलने लगी। उसे कानूनन जब जहाँ हाजिर होना चाहिये, बार-बार उसका वहाँ व्यतिक्रम होने लगा। मान लो, जब उसे गुलाम के पास एक पंक्ति में खड़ा होना है तो वह सहसा राजपुत्र के पास जाकर खड़ी हो जाती; गुलाम अविचलित भाव से सुगम्भीर स्वर में कहता—"बेगम, तुम भूल गईं।" यह सुनकर पान की बेगम के स्वाभाविक रक्त-कपोल और भी लाल हो जाते। उस की निर्निमेष अशान्त दृष्टि नीचे की ओर झुक जाती। राजपुत्र कहता—"कोई भूल नहीं हुई है, आज से मैं ही गुलाम हूँ।"

नव प्रस्फुटित रमणी हृदय से यह कैसी अभूतपूर्व शोभा, यह कैसा अचिन्तनीय लावण्य विकसित हो रहा है। उसकी चाल में यह कैसा मधुर चाँचल्य है, उसकी दृष्टि में यह कैसी हृदय की तरंग हैं, उसके सारे अस्तित्व से यह कैसा सुगन्धित आर्तउच्छ्वास उच्छ्वासित हो रहा है।

इस नव-अपराधिनी की भूल सुधारने की ओर ध्यान देते हुये अन्य लोगों को भी भ्रम होने लगा है। इक्का अपना समुचित मान की रक्षा करना भूल गया, बादशाह और गुलाम में अब कोई अभेद नहीं रहा, नहला-दहला को भी न जाने क्या हो गया।

इस पुराने द्वीप में वसन्त की कोयल बहुत बार बोली है,

किन्तु इस बार जैसी कभी नहीं बोली। समुद्र सदा से एक-सा ही गीत गाता चला आरहा है, किन्तु इतने दिनों तक जो सनातन विधान की महिमा एक तान में गाता आया है, आज वह सहसा दक्षिणी हवा से चंचल विश्वव्यापी दुरन्त यौवन-तरंगों की तरह प्रकाश और छाया में, भाव और भाषा से अपनी अथाह व्याकुलता व्यक्त करने की चेष्टा करने लगा।

(६)

क्या यह वही इक्का है, वही बादशाह, वही गुलाम है। कहाँ गई इनकी वह परितुष्ट, परिपुष्ट, सुगोल मुख-च्छवि। कोई आकाश की ओर देखता है, कोई समुद्र के किनारे बैठा रहता है, किसी को रात को नींद नहीं आती, तो किसी को भोजन नहीं रुचता।

किसी के मुँह पर ईर्ष्या है, किसी के अनुराग, किसी के व्याकुलता, तो किसी के मुँह संशक हैं। कहीं हँसी है, कहीं रोना है,कहीं संगीत है। सभी को अपने प्रति और दूसरों के प्रति निगाह पड़ी हुई हैं। सभी अपने साथ दूसरों की तुलना कर रहे हैं।

इक्का सोच रहा है—युवक बादशाह दीखने में बुरा न सही किन्तु उसके मुँह पर श्री नहीं है—मेरी चाल-ढाल में ऐसा महात्म्य है कि किसी किसी व्यक्ति-विशेष की दृष्टि मुझ पर पड़े बिना नहीं रह सकती।

बादशाह सोच रहा है—इक्का हमेशा बड़ी शान से गरदन घुमाकर चलता है, वह सोचता होगा कि उसे देखकर

बेगमों का दिल फटा जा रहा है। यह सोचकर ज़रा तिरछी हँसी हँस कर अपना मुँह दर्पण में देखता है।

सारे देश में जितनी बेगमें थीं सभी खूब शृंगार करतीं और एक-दूसरे के प्रति कहतीं—"अरी मरी क्यों जाती हो। गर्विणी को इतने शृंगार का शौक क्यों है? उसका रंग-ढंग देखकर तो शर्म आती है।"—कहकर दुगने प्रयत्न से हाव-भाव विस्तार करतीं।

कहीं दो सखाओं में तो कहीं दो सखियों में गुप्त बात-चीत होती रहती है। कभी रुष्ट होतीं, कभी मान-अभिमान करतीं, तो पीछे मनाने जातीं।

युवक पथ के वृक्ष के नीचे, जमीन पर पड़े सूखे पत्तों पर आलस से पैर फैलाये बैठे रहते। बालायें सुनील वस्त्र पहने हुए अपने मन में उस छाया-पथ पर आती-जातीं और वहाँ आकर मुँह झुकाकर दृष्टि नीचे कर लेतीं—मानो किसी को नहीं देखा है। मानो किसी को दिखाने नहीं आई हैं, ऐसा भाव दिखाकर चली जातीं।

यह देखकर कोई-कोई पागल युवक दुःसाहस करके जल्दी से नज़दीक जाता, किन्तु मन के अनुकूल एक भी बात याद नहीं आती, अप्रतिभ होकर खड़ा रहता, अनुकूल अवसर सरक जाता और रमणी भी अतीत क्षण की तरह क्रमशः धीरे-धीरे दूर जाती हुई विलीन हो जाती।

सिर पर चिड़िया बोलती रहती, हवा अंचल और अलक उड़ाती हुई सनसनाती हुई चली जाती, तरुपल्लव झर-झर मर-मर करते रहते और समुद्र की अविश्राम उच्छ्वसित ध्वनि

हृदय की अव्यक्त वासना को दुगना बढ़ा देती।

एक वसन्त में तीन विदेशी युवकों ने आकर सूखी गंगा में ऐसा ही एक भारी तूफान उठा दिया।

(७)

राजपुत्र ने देखा, ज्वार-भाटा के बीच सारा देश स्तब्ध है——किसी के मुँह पर बात नहीं——केवल परस्पर का मुँह देखा देखी; केवल मन की वासना स्तूपाकार करके बालू के महल बनाना और तोड़ना चल रहा है। सभी मानो घर के कोने में बैठे आग में अपनों को ही आहुति के रूप में दे रहे हैं। और प्रतिदिन कृश और वाक्यहीन होते जा रहे हैं। केवल दोनों नेत्र जल रहे हैं और अन्तर्निहित वाणी के आन्दोलन से ओठ वायु से कम्पित पल्लवों की तरह स्पन्दित हो रहे हैं।

राजपुत्र ने सबको बुलाकर कहा——"बंसी ले आओ, भेरी बजाओ, सभी आनन्द करो, पान की बेगम का स्वयंम्वर होगा।"

उसी क्षण नहला-दहला बंसी बजाने लगे, दुक्की-तिक्की ने भेरी वादन किया। हठात् इस विशाल आनन्द-तरंग से वह काना-फूसी और देखा-देखी टूट गई।

उत्सव में एकत्रित नर-नारियों में कितनी बातें, कितनी हँसी और कितना परिहास होने लगा। मजाक में मन की बातें हुईं, कपट करके अविश्वास दिखाया था, उच्चहास्य में बहुत-सी तुच्छ बातें हुईं। घने जंगल में ज़ोर से हवा चलने पर जैसे शाखाओं-शाखाओं में, पत्तों-पत्तों में, लताओं और वृक्षों में

परस्पर नाना हाव-भाव हिलना-मिलना हुआ करता है, इनमें भी उसी तरह होने लगा।

ऐसे कल-रव में सुबह से वंशी में बड़े मधुर स्वर में शहनाई राग बजने लगा। आनन्द में गम्भीरता, मिलन में व्याकुलता, विश्व दृश्य में सुन्दरता, हृदयों में प्रीति की वेदना का संचार हुआ। जिन्होंने अच्छी तरह से प्रेम नहीं किया था, उन्होंने प्रेम किया और जिन्होंने प्रेम किया था वे आनन्द से उदास होगये।

पान की बेगम रंगीन वस्त्र पहन कर एक गुप्त छायाकुंज में बैठी थी। उसके कान में भी दूर से शहनाई की तान आ रही थी और उसकी दोनों आँखें मुद्रित होती जा रही थीं। सहसा आँखें खोलकर देखा, सामने राजपुत्र बैठा उसकी ओर देख रहा है, उसने काँपकर अपना मुँह दोनों हाथों से ढक लिया और भलुण्ठित होगई।

राजपुत्र सारे दिन नदी के तीर पर घूमता हुआ उस संत्रस्त नेत्रक्षेप और सलज्ज लुण्ठन का अर्थ मन ही मन सोच रहा था।

(८)

रात को शत-सहस्र दीपों की रोशनी में, माला की सुगंधी में, वंशी के राग में, अलंकृत सुसज्जित सहास्य श्रेणी-वद्ध युवकों की सभा में एक बालिका धीरे-धीरे कम्पित चरणों से माला लेकर राजपुत्र के सामने आकर खड़ी होगई। वह अभिलषित कंठ तक माला नहीं उठा सकी, न उसके नेत्र अभिलषित मुख की ओर ही उठ सके। राजपुत्र ने तब अपना सिर झुका

लिया और माला स्खलित होकर उसके कण्ठ में आ गई। चित्रवत् निस्तब्ध सभा सहसा आनन्दोच्छ्वास हो अधीर हो उठी।

सब ने वर-कन्या को आदर के साथ सिंहासन पर बैठाया।

(६)

समुद्र-पार की दुःखिया रानी सोने की नाव में बैठकर पुत्र के नव-राज्य में आई।

तस्वीरों का दल सहसा मनुष्य बन गया। अब पहले की तरह अविच्छिन्न शान्ति और गाम्भीर्य नहीं है। संसार-प्रवाह ने अपना सुख-दुःख, राग-द्वेष, विपद्-सम्पद् लेकर इस नवीन राजा के राज्य को परिपूर्ण कर दिया है। अब कोई अच्छा है, कोई बुरा है, कोई आनन्दित है, कोई दुःखी है—लेकिन सब आदमी हैं। अब सभी अलंघ्य कानून के अनुसार उदासीन नहीं हैं, परन्तु अपनी इच्छा के अनुसार साधु और असाधु हैं।

: ५ :

व्यवधान

बहुत हिसाब लगाकर, सम्बन्ध मिलाकर देखने से वनमाली और हिमाँशुमाली ममेरे-फुफेरे भाई हैं। इनके दोनों परिवार बहुत दिनों से पड़ौसी हैं। बीच में व्यवधान सिर्फ एक बगीचे का है। इसलिये इनका सम्पर्क नितान्त निकट न होने पर भी इनमें घनिष्ठता का अभाव नहीं।

वनमाली हिमाँशुमाली से उम्र में भी बहुत बड़ा है। हिमाँशु के जब दूध के दाँत नहीं निकले थे और न उसकी वाणी ही फूटी थी तभी से वह उसे इस बगीचे में घुमाने लिवा लाता था और उसके साथ खेलता, वह रोता हो उसे चुप करता और शिशु हिमाँशु के मनोरञ्जन के लिये सब प्रकार की वयसोचित चंचलता प्रकाश करने में वनमाली ने कोई कसर नहीं की थी।

वनमाली विशेष पढ़ा-लिखा नहीं था। उसे बगीचे का शौक था और वह दूर-सम्पर्क का भाई था। इसे ही एक दुष्प्राप्य, बहुमूल्य लता की तरह समझ कर हृदय के सारे स्नेह-रस से सिंचन कर रहा था और उसने जब देखा कि उसके सारे हृदय को घेरकर वह लता की तरह ही फैलकर ऊपर चढ़ रहा है तो अपने को धन्य समझा।

ऐसा स्वभाव सचराचर में नहीं देखा जाता है, किन्तु किसी-किसी का स्वभाव ऐसा ही होता है कि एक छोटी-सी कल्पना या एक शिशु अथवा किसी कृतघ्न मित्र के निकट सरलता से अपने को विसर्जन कर देता है। वह इस विपुल पृथ्वी पर एक मात्र छोटे-से स्नेह के कारबार में जीवन का समय मूलधन लगाकर निश्चिन्त होकर, समस्त जीवन साधारण रूप से बिता देता है अथवा सहसा एक दिन घर-बार बेचकर फकीर होकर निकल पड़ता है।

हिमांशु जब थोड़ा और बड़ा हुआ तो उम्र और सम्बन्ध में गहरा तारतम्य रहते हुये भी दोनों में मित्रता का बन्धन स्थापित हुआ। ऐसा लगता, दोनों के बीच छोटा-बड़ा कोई नहीं।

ऐसा होने का एक कारण भी था। हिमाँशु पढ़ाई-लिखाई से विशेष दिलचस्पी रखता था। जो भी पुस्तक हाथ में आती उसे पढ़ लेता। इससे कुछ फालतू पुस्तकें अवश्य पढ़ गया था लेकिन इस तरह उसके ज्ञान-पिपासु मन की पुष्टि भी होती थी। वनमाली विशेष श्रद्धा से उसकी बात सुनता। छोटी-बड़ी सभी बातों के लिये उससे परामर्श करता। किसी भी विषय में बालक समझ कर अवज्ञा नहीं करता था। हृदय के सर्वप्रथम स्नेहरस से जिसे बड़ा किया, वह यदि बुद्धि, ज्ञान और उन्नत स्वभाव के कारण विशेष श्रद्धा का अधिकारी होता है तो उससे परम प्रिय वस्तु पृथ्वी पर दूसरी नहीं हो सकती।

बगीचे का शौक भी हिमांशु को था। किन्तु इस शौक में

दोनों मित्रों में अभेद था। वनमाली का था हृदय का शौक और हिमांशु का बुद्धि का। पृथ्वी के कोमल वृक्ष, लता आदि, ये अचेतन जीवन राशि, जो यत्न की कोई लालसा ही नहीं रखते, लेकिन यत्न पाते ही घर के बच्चों की तरह बढ़ते हैं। जो मानव के भी शिशु हैं, उन्हें पालने की वनमाली में एक स्वाभाविक वृत्ति थी। किन्तु हिमाँशु की इनके प्रति कुतूहली दृष्टि थी। अँकुर निकलते हैं, किसलय दिखाई पड़ते हैं, फूल खिलते हैं, इनमें उसे एक विशेष कुतूहल दिखाई देता।

गाद् के बीज बोना, कलम करना, खाद देने के बारे में हिमाँशु नये-नये सुझाव देता, जिन्हें वनमाली अत्यन्त प्रसन्न होकर ग्रहण करता। इस बगीचे को लेकर इसकी आकृति प्रकृति जितनी तरह अदल-बदल की जा सकती थी, दोनों मिल कर करते।

दरवाजे के सामने बगीचे में ही एक पक्का चबूतरा था। शाम के चार बजते ही पतला कुर्ता पहन कर, दुपट्टा लेकर हुक्का लिये वनमाली अकेला वहां जाकर बैठ जाता। वक्त काटने के लिये अखबार या अन्य साधन का वनमाली उपयोग नहीं करता था। हुक्का पीते-पीते कभी बाँई ओर, कभी दाँई ओर उदास दृष्टिपात करता रहना। इस तरह हुक्के के धुएं की तरह समय भी लघुभाव से उड़ जाता। उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

अन्त में जब हिमाँशु स्कूल से आकर जलपान करके दिखाई देता तो जल्दी से हुक्का की नली रखते हुये मनमाली खड़ा हो जाता। उसका आग्रह देखकर यह समझते देर न

लगती कि इतनी देर से वह किसका इन्तजार कर रहा था।

इसके बाद दोनों मित्र बगीचे में घूमते और बातें करते। अँधेरा हो जाने पर दोनों बेंच पर आकर बैठ जाते। दक्षिण की हवा पत्तों को आन्दोलित करती हुई बह जाती, कभी हवा न बहती तो वृक्ष चित्र की तरह स्थिर खड़े रहते, ऊपर आकाश में असंख्य तारे जलते रहते।

हिमाँशु कहता, वनमाली चुपचाप सुनता। जो उसके समझ में नहीं आता वह भी अच्छा लगता, जो बातें दूसरों को बे सिर-पैर की सी लगतीं वही बातें माली को अच्छी लगतीं। और ऐसा वयस्क श्रद्धावान श्रोता पाकर हिमाँशु की शक्ति, स्मृति शक्ति, कल्पना शक्ति परिपुष्ट होने लगी। वह कुछ तो पढ़कर बोलता और कुछ सोचकर बोलता, कुछ बोलते-बोलते बोल जाता और अधिकांश कल्पना की सहायता से ही ज्ञान का अभाव ढक लेता। कुछ ठीक कहता और कुछ बे ठीक भी, किन्तु वनमाली गम्भीर होकर सुनता और बीच-बीच में प्रश्न भी करता। हिमाँशु प्रश्नोत्तर में जो समझा देता, वही समझ लेता। और दूसरे दिन चबूतरे पर बैठा हुक्का पीते उन पर विचार करता।

इस बीच एक उपद्रव खड़ा होगया। वनमाली के बगीचे और हिमाँशु के घर के बीच एक पानी जाने का नाला था। उस नाले के एक स्थान पर बिजौरे का एक वृक्ष खड़ा हुआ था। उस वृक्ष के जब फल हुये तो वनमाली के नौकर ने तोड़ने की कोशिश की और हिमाँशु के नौकर ने बाधा दी। इस प्रसंग में दोनों ओर से गालियों की जो बौछार हुई, इसमें यदि कोई

वस्तु होती तो उसी से नाला भर जाता।

वनमाली का बाप हरचन्द्र और हिमाँशु का बाप गोकुलचन्द्र भी इस प्रसंग में झगड़ पड़े। दोनों पक्ष वाले निर्णय के लिये अदालत पहुँचे।

वकील-बैरिस्टरों में जितने महारथी थे, दोनों ओर आ गये। तुमुल वाक् युद्ध हुआ। इस युद्ध में जितना रुपया खर्च हुआ, भाद्र मास में उतना पानी उस नाले से नहीं गया होगा। अन्त में विजय हरचन्द्र की ही हुई। अदालत में प्रमाणित हो गया कि वह नाला और गाछ उसी का है। अपील हुई, लेकिन बिजौरे का गाछ हरचन्द्र का ही रहा।

जब तक मुकदमा चलता रहा, दोनों भाईयों के बन्धुत्व में कोई अन्तर नहीं आया। यहाँ तक कि किसी प्रकार के विवाद की छाया पड़े इस भय से वनमाली अधिक कातरता से हिमाँशु को हृदय से आबद्ध करना चाहता था।

जिस दिन अदालत में हरचन्द्र की जीत हुई, उस दिन उसके घर में विशेषकर अन्तःपुर में हर्षोल्लास छा गया। केवल वनमाली की आँखों में नींद न थी। दूसरे दिन वह इस प्रकार बैठा था मानो दुनिया में किसी का कुछ नहीं बिगड़ा है, सिर्फ उसी की बहुत बड़ी हार होगई है। उस दिन शाम को हिमाँशु नहीं आया तो वनमाली ने दीर्घ स्वाँस छोड़कर हिमाँशु के घर की ओर देखा। खुली हुई खिड़की से हिमाँशु के स्कूल के कपड़े टँगे हुये दिखाई पड़ रहे थे। साथ ही बहुत से चिरपरिक्षित लक्षणों को मिलाकर देखा कि हिमाँशु घर पर ही है। हुक्का पीना बन्द करके इधर-उधर टहलने लगा। सैंकड़ों बार

खुली हुई खिड़की की ओर देखा, लेकिन हिमाँशु नहीं दीखा।

सन्ध्या के दीप जलते ही वनमाली हिमाँशु के घर गया गोकुलचन्द्र द्वार के नज़दीक ही बैठे अपने अशान्त चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न कर रहे थे। बोले, "कौन है ?"

वनमाली चौंक उठा ! मानो चोरी करने आया था, पकड़ा गया। कम्पित स्वर में बोला, "मैं हूँ मामा !"

मामा ने कहा, "किसे ढूढने आये हो ? यहाँ कोई नहीं है !" वनमाली पुनः बगीचे में जाकर बैठ गया। ज्यों-ज्यों रात गहरी होती गई, हिमाँशु के घर की खिड़कियाँ और दरवाजे एक-एक बन्द हो गये। दरवाजे के छिद्र से जो क्षीण आलोक आरहा था वह भी क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होता हुआ विलीन हो गया। रात्रि के अंधकार में वनमाली ने सोचा कि हिमाँशु के घर के दरवाजे उसी के लिये बन्द होगये हैं। वह वहीं बैठा रहा।

दूसरे दिन बगीचे में आकर वनमाली ने सोचा कि आज हिमाँशु आये। नित्य प्रतिदिन जो आता था, वह एक दिन नहीं भी आयेगा, यह वह सोच नहीं सकता था। उसने यह भी नहीं सोचा था कि यह बन्धन टूट सकता है। वह ऐसे निश्चिन्त मन से रहता कि जीवन के सारे दुःख-सुख न जाने कब उस बन्धन में जकड़े गये; पता ही नहीं चला। आज सहसा मालूम हुआ कि वह बन्धन टूट चुका है। किन्तु एक क्षण उसका यह बन्धन टूट गया है, इस पर उसका अन्तर विश्वास नहीं करना चाहता था।

प्रतिदिन यथासमय बगीचे में बैठता, यदि दैव से हिमाँशु

आजाय। किन्तु ऐसा ही दुर्भाग्य जो प्रतिदिन नियमित आता था, आज दैव से भी नहीं आया। रविवार के दिन वनमाली ने सोचा, पहले की तरह आज भी सुबह हिमाँशु उन्हीं के घर आयेगा और भोजन करेगा। किन्तु भोजन के वक्त हिमाँशु नहीं आया। तब वनमाली ने सोचा, 'भोजन करके ही आयेगा।' किन्तु भोजन करके भी नहीं आया।

वनमाली ने फिर सोचा, 'आज भोजन करके सो रहा होगा। उठते ही आयेगा।' सोकर हिमाँशु कब उठा, यह तो मालूम नहीं, लेकिन नहीं आया।

पुनः शाम हुई और रात भी। हिमाँशु के घर की बत्तियां बुझ गईं, दरवाजे रुद्ध हो गये।

इस प्रकार सोमवार से लेकर रविवार तक जब सातों दिन दुर्भाग्य ने वनमाली के हाथ से ले लिये, उसकी आशा को आश्रय देने के लिये एक भी दिन नहीं छोड़ा तो हिमाँशु की रुद्ध अट्टालिका की ओर देखकर उसकी कातर अश्रुपूर्ण आँखों ने बड़े अभिमान की नालिश भेजी और जीवन जी सभी वेदनाओं को एकत्रित करके केवल एक ही वाक्य में संयत करके बोला—'दयामय !'

: ६ :

शाहज़ादियाँ

औरंगजेब से हारकर शाह शुजा अपनी तीन युवती कन्याओं के साथ आराकान के राजा की शरण में चले गये। शाह शुजा की सुन्दर कन्याओं को देखकर, आराकान (ब्रह्मदेश का एक भाग) के राजा ने सोचा कि क्यों न इनसे अपने राजपुत्रों का विवाह कर दिया जाय। यह प्रस्ताव जब शुजा के सामने रखा गया, तो उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इसलिए एक दिन शुजा को नौका-विहार के बहाने नदी में ले जाया गया और छल-द्वारा उनकी नौका डुबो देने का प्रयत्न किया गया। तब निरुपाय शुजा ने अपनी कनिष्ठा कन्या अमीना को जल में फैंक दिया और ज्येष्ठ कन्या ने आत्म-हत्या कर ली। शाह शुजा का विश्वस्त अनुचर रहमत अली जुलेखा को लेकर तैरता हुआ भाग निकला। शाह शुजा लड़ते-लड़ते मारे गये।

अमीना नदी में बहती हुई संयोग से एक धीवर के जाल में फँस गई। धीवर उसे अपनी कुटिया में ले आया और बड़े स्नेह तथा यत्न से वह पालने लगा। उसी धीवर की कुटिया में रहकर अमीना बड़ी हुई।

इसी बीच वृद्ध आराकान नरेश की मृत्यु होगई और युवराज सिंहासन पर बैठे।

(२)

एक दिन सुबह वृद्ध धीवर ने पुकारा––"तिन्नि ! अरी कहाँ गई ?" धीवर ने आराकानी भाषा में अमीना का नया नाम रखा था।

"क्या है बाबा ?"

"सुबह-सुबह कहाँ गई थी ?" वृद्ध ने किंचित भर्त्सना के भाव से कहा––"काम-काज में अभी तक हाथ नहीं लगाया। मेरे नये जाल में गोंद भी नहीं लगाया, और मेरी नाव––"

अमीना धीवर के निकट आकर प्यार से बोली––"बाबा, आज मेरी दीदी आई है, इसलिये मेरी छुट्टी है।"

"तेरी दीदी कहाँ से आ गई ?"

जुलेखा एक ओर से निकलकर बोली––"मैं हूँ।"

वृद्ध चकित रह गया। जुलेखा के बिल्कुल नज़दीक जाकर, ध्यान से वृद्ध ने उसका मुँह देखा। फिर बोला––"तू काम-काज कुछ जानती है ?"

अमीना बोली––"बाबा, दीदी काम नहीं करेगी। इनका काम मैं कर दिया करूँगी।"

वृद्ध ने जुलेखा से प्रश्न किया––"तू रहेगी कहाँ ?"

"अमीना के पास !" जुलेखा ने कहा।

वृद्ध ने सोचा, 'अच्छी आफत है !' बोला––"और खाओगी क्या ?"

"इसका भी रास्ता है।" कहकर जुलेखा ने बे-परवाही से एक स्वर्ण-मुद्रा उसके सामने फेंक दी।

अमीना उसे उठाकर धीवर के हाथ में देती हुई धीरे से

बोली—"बाबा, अब कुछ न बोलो। चुपचाप चले जाओ। काम में देर हो रही है।"

जुलेखा वेश बदलकर, बहुत से स्थानों में भ्रमण करती हुई किस प्रकार अमीना के पास आई, यह एक लम्बी कहानी है। उसका रक्षक रहमत शेख एक फर्ज़ी नाम से आराकान की राज-सभा में काम कर रहा था।

(३)

संकीर्ण नदी बह रही थी। ग्रीष्म की प्रभाती वायु में कैलू-वृक्ष की रक्त-वर्ण पुष्प-मञ्जरी से फूल झर रहे थे। वृक्ष के नीचे बैठी हुई जुलेखा अमीना से कह रही थी—"हमें खुदा ने इसलिये जि़न्दा रखा है कि हम वालिद के खून का बदला ले सकें।" अमीना नदी के दूसरे तट की सुदूर छायामय वन-श्रेणी की ओर देखती हुई बोली—"दीदी, अब ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। मुझे यह दुनिया एक प्रकार से अच्छी ही लगने लगी है। मरना चाहें तो मरें वह लोग जो हमेशा आपस में मार-काट मचाये रहते हैं। मुझे तो अब कोई दुःख नहीं।"

जुलेखा बोली—"बड़े अफसोस की बात है बहन! तुम शाही खानदान की लड़की हो। कहाँ दिल्ली का शाही महल, और कहाँ यह धीवर की झोंपड़ी!"

अमीना हँसकर बोली—"दिल्ली के शाही महल से अगर यह झोंपड़ी और यह कैलू गाछ किसी लड़की को अच्छे लगते हैं, तो इसके लिये दिल्ली का शाही महल आँसू की एक बूंद

भी न गिरायेगा।"

जुलेखा अनमने भाव से बोली—"खैर, इसके लिये मैं तुझे दोष नहीं दे सकती। उस वक्त तू बहुत छोटी थी। लेकिन ज़रा सोच तो, वालिद तुझे ही सब से ज्यादा प्यार करते थे। तभी तो उन्होंने अपने हाथों से तुझे जल में फेंका था। उस पितृदत्त मृत्यु से इस जीवन को अधिक प्रिय मत समझ। अगर तू बदला ले सके, तभी अपने जीवन को सार्थक समझना।"

अमीना स्थिर बैठी रही। यह स्पष्ट था कि इस अप्रिय प्रसंग के बावजूद बहार की वह मस्त हवा, वह कैलू गाछ और उसका अपना मादक नवयौवन किसी की सुखद स्मृति में उसे निमग्न कर रहे थे। थोड़ी देर बाद वह बोली—"दीदी, तुम ज़रा बैठो। कुछ काम रह गया है, उसे कर आऊँ। खाना भी पकाना है। न पकाऊँगी, तो सब गड़बड़ हो जायगा।"

(४)

जुलेखा चुपचाप बैठी अमीना के बारे में सोच रही थी। तभी सहसा किसी ने कूद कर, उसकी आँखें बन्द कर लीं। जुलेखा व्यस्त हो उठी। बोली—"कौन है ?"

उसका स्वर सुनकर, युवक ने अपने हाथ जुलेखा की आंखों से हटा लिये। फिर जुलेखा की ओर देखकर बोला—"तू तो तिन्नि नहीं है !" मानो ज़ुलेखा अपने को तिन्नि बता रही हो और युवक ने अपनी असामान्य तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा उसका असली परिचय जान लिया हो।

जुलेखा अपने वस्त्र सँभालती हुई कठोर स्वर में बोली—

"कौन हो तुम ?"

युवक ने कहा—"तुम मुझे न पहचान पाओगी। तिन्नी कहाँ है ?"

शोर सुनकर तिन्नि बाहर आ गई। जुलेखा का क्रोध और युवक को अकचकाया देखकर वह खिलखिला पड़ी। उसने कहा—"दीदी, इसकी बातों पर ध्यान न दो। यह आदमी तो जंगली जानवर है। इसने कोई शैतानी की है तो मैं अभी इसे ठीक किये देती हूँ। दालिया, तुमने क्या किया ?"

युवक ने कहा—"आँखें मूँदी थीं। मैंने भूल से इसे तिन्नि समझ लिया था।"

तिन्नि क्रोध प्रकट करती हुई बोली—"फिर ? छोटे मुँह बड़ी बात ! तुमने कब तिन्नि की आँखें मूँदी थीं ? बड़े शैतान हो !"

युवक ने कहा—"आँख मूंदने के लिये बहुत साहस की ज़रूरत तो नहीं होती, अगर पहले का अभ्यास हो। किन्तु, सच कह रहा हूँ तिन्नि, आज मैं सचमुच डर गया।" कहकर, नज़र बचाकर जुलेखा की ओर देखकर वह हँस दिया।

अमीना बोली—"तुम पूरे वहशी हो। तुम शाहज़ादी के सामने खड़े होने के योग्य नहीं। तुम्हें शिक्षा देना जरूरी है। देखो, इस तरह सलाम करो !" और अमीना ने मधुर भंगिमा से हाथ हिलाकर, कमर टेढ़ी करके, जुलेखा को सलाम किया।

युवक ने बड़े कष्ट से उसका भोंडा अनुकरण किया।

"अब इस तरह तीन कदम पीछे चलो।"

युवक पीछे चला।

"फिर सलाम करो।"

युवक ने फिर सलाम किया। इस प्रकार सलाम करते-करते, युवक कुटीर के द्वार तक पहुँच गया।"

अमीना बोली-"रे, घर के अन्दर जाओ।"

युवक घर के भीतर चला गया। अमीना ने बाहर से कुंडी लगा दी। फिर बोली—"थोड़ा काम करो। आग जला दो।"

इसके बाद वह जुलेखा के पास आकर, बैठते हुए बोली—"दीदी, नाराज़ न होओ। यहाँ के लोग होते ही ऐसे हैं। मैं तो तंग आगई हूँ इन लोगों से।"

लेकिन अमीना के मुँह या व्यवहार से उसके विचारों का समर्थन नहीं हो रहा था। बहुत-से विषयों में यहाँ के लोगों के प्रति उसका पक्षपात ही अधिक देखा जा रहा था।

जुलेखा यथा-साध्य क्रोध प्रकट करती हुई बोली—"सच-मुच अमीना, तेरे व्यवहार से मुझे आश्चर्य हो रहा है। एक साधारण युवक आकर तुझे स्पर्श करे! उसकी इतनी हिम्मत!"

अमीना ने भी दीदी के स्वर में कहा—"हाँ, सच मानो दीदी, किसी बादशाह या नवाब का लड़का भी होता, तो उसे भी अपमानित कर भगा देती।"

जुलेखा की हँसी अब नहीं रुकी। हँसकर बोली—"सच बता, अमीना, तुझे यह जिन्दगी जो अच्छी लग रही है, तो क्या इस जंगली युवक के कारण ही?"

अमीना बोली—"दालिया मेरा बहुत-सा काम कर देता है दीदी। फल-फूल ला देता है, शिकार कर लाता है। कोई भी काम कहूँ, वह तुरन्त कर देता है। कितना भी फटकारूँ, वह बुरा नहीं मानता, अगर कभी कहती हूँ—'दालिया, मैं तुमसे बहुत नाराज़ हूँ, तो वह मेरे मुँह की ओर देखकर हँस देता है। इस देश में परिहास यों होता है कि ये लोग मुक्के पीठ पर पड़ने से खुश होते हैं। इसकी भी परीक्षा कर चुकी हूँ। देखो न, घर में बन्द कर दिया है, तो मौज से चूल्हा फूँक रहा है। इससे तो मैं तंग आ गई। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

जुलेखा बोली—"अच्छा, मैं कोशिश करूँगी उसे ठीक करने की।"

अमीना ने हँसकर कहा—"तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, दीदी, उसे कुछ मत कहना।" वह ऐसे बोली मानो वह युवक उसका कोई प्यारा पालतू पशु हो, जो मनुष्य को देखकर अपने वन्य स्वभाव के कारण भाग निकलने की कोशिक करता हो।

तभी धीवर ने आकर पूछा—"आज दालिया नहीं आया, रे तिन्नि?"

"आया है।"

"कहाँ है?"

"बड़ा उपद्रव कर रहा था। सो उसे घर में बन्द कर दिया है।"

वृद्ध ने कुछ चिन्तित स्वर में कहा—"थोड़ी उम्र में सभी ऐसे होते हैं बेटी। उसे कष्ट मत दिया करो। दालिया

कल एक थलु (स्वर्ण मुद्रा) देकर तीन मछली ले गया था।"

अमीना बोली—"तुम निश्चिन्त रहो बाबा, आज मैं उससे दो थलु ले लूंगी और एक भी मछली न दूँगी।"

वृद्ध अपनी पालित कन्या को थोड़ी उम्र में ही इतनी चतुर देख कर बहुत खुश हुआ और सस्नेह उसके सिर पर हाथ फेर कर चला गया।

(५)

जुलेखा को भी अब दालिया के आने-जाने में कोई आपत्ति नहीं रही। यह आश्चर्य की बात तो अवश्य है, लेकिन सोचने पर इसमें आश्चर्य की बात नहीं। नदी के एक ओर जैसे स्रोत है, दूसरी ओर वैसे ही तट भी है। रमणी के भी उसी तरह हृदयावेग और लोक-लज्जा होती है। लेकिन आराकान के इस निर्जन प्रदेश में समाज कहाँ? यहाँ तो केवल निश्चित ऋतु में ही वृक्ष की शाखायें मञ्जरित होती हैं। सामने की नील-वर्ण नदी वर्षा में स्फीत, शरद में स्वच्छ और ग्रीष्म में क्षीण होती है। यहाँ पक्षियों के मधुर कण्ठ-स्वर में आलोचना लेश-मात्र नहीं रहती। कभी-कभी दक्षिण वायु पास के गाँव से मानव-कंठ-स्वरों की ध्वनियाँ अवश्य लाती है, लेकिन काना-फूसी नहीं। परिव्यक्त अट्टालिका पर जैसे क्रमशः धीरे-धीरे घास-फूस का जन्म होता है, वहाँ कुछ दिन रहने से प्रकृति के निशब्द आक्रमण से मानव-निर्मित लौकिकता की दृढ़ भित्ति अलक्ष्य रूप से टूट जाती है। फिर प्रकृति के साथ मिलकर सब-कुछ एक हो जाता है। दो समवयस्क नर-नारी का मिलन

दृश्य रमणी को जितना अच्छा लगता है, वैसा और कुछ नहीं। इतने रहस्य, इतने सुख, इतने कुतूहल का विषय उसके लिये और कुछ नहीं हो सकता। अतः उस कुटीर के भीतर दरिद्रता की छाया में जुलेखा का कुल-गर्व और लोक-मर्यादा का भाव जब अपने-आप शिथिल हो गया तो पुष्पित कैलू वृक्ष के नीचे अमीना और दालिया का मिलन-दृश्य उसे बड़ा अच्छा लगने लगा। उसका तरुण हृदय भी शायद एक अपरितृप्त आकांक्षा से जाग उठता और उसे चंचल कर देता। अन्त में ऐसा हो गया कि कभी युवक के आने में देर हो जाती तो अमीना जैसी उत्कण्ठा से उसकी राह देखती, जुलेखा भी वैसे ही आग्रह से उसकी प्रतीक्षा करती। और जब दोनों एकत्र होते, तो चित्रकार जैसे अपने नवनिर्मित चित्र को थोड़ी दूर से देखता है, वैसे वह भी सहास्य और सस्नेह उन्हें देखती। कभी-कभी कृत्रिमता की आढ़ लेकर, मौखिक कलह और भर्त्सना भी करती, कभी अमीना को घर में बन्द करके युवक के मिलनावेग का मज़ा लेती।

सम्राट् और अरण्य में एक सादृश्य है। दोनों ही स्वाधीन और स्वतन्त्र होते हैं; दोनों को ही किसी के नियम पर नहीं चलना पड़ता। दोनों में प्रकृति की एक स्वाभाविक सरलता है। जो बीच के हैं, जो दिन-रात लोक-शास्त्र के अक्षर मिला कर जीवन-यापन करते हैं, वे ही बड़ों के निकट दास, छोटों के निकट प्रभु और उलझन में पड़कर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। जंगली दालिया प्रकृति साम्राज्ञी का चंचल बालक था। शाहज़ादी के निकट उसे कोई संकोच अनुभव नहीं होता

था। और शाहजादियाँ भी उसे समकक्ष में ले सकती थीं। उनके हँसमुख, सरल, कौतुकप्रिय, प्रत्येक अवस्था में निर्भीक, असंकुचित चरित्र में दारिद्र का कोई लक्षण ही नहीं था। किन्तु इन सब खेलों के बीच कभी-कभी जुलेखा का हृदय हाय-हाय कर उठता। वह सोचती—'एक शाहज़ादी की यह तबाही !'

एक दिन सुबह दालिया के आते ही जुलेखा ने उसका हाथ पकड़ कर, पूछा—"दालिया, हमें यहाँ के राजा को दिखा सकते हो ?"

"हाँ, दिखा सकता हूँ। पर क्यों ?"

"मेरे पास एक छुरा है। उसे मैं उसकी छाती में भोंकना चाहती हूँ।"

पहले तो यह सुनकर दालिया को आश्चर्य हुआ, फिर जुलेखा के हिंसाप्रखर मुख को देखकर उसका चेहरा हँसी से खिल उठा। मानो ऐसी मज़ेदार बात उसने कभी सुनी ही न हो। राजपुत्री के अनुरूप परिहास तो यही है। एकाएक जाकर चलते-फिरते राजा की छाती में एक छुरा भोंक देने से, राजा कैसा चकित रह जायगा, यही चित्र उसके मन में उदय होकर, उसकी निःशब्द हँसी को रह-रह कर उच्चहास में परिणित कर रहा था।

(६)

इसके दूसरे दिन ही रहमत शेख ने जुलेखा को एक पत्र भेजा, जिसमें लिखा था कि आराकान का नया राजा धीवर

की कुटीर में दोनों बहिनों को छिपकर देख चुका है, और अमीना को देखकर अत्यन्त मुग्ध हुआ है। उसे विवाह के लिये अविलम्ब राजभवन में लाने की इच्छा हो रही है। प्रतिशोध का ऐसा अच्छा अवसर फिर कभी न आयेगा।

पत्र पढ़कर जुलेखा ने दृढ़भाव से अमीना का हाथ पकड़कर कहा—"ईश्वर की इच्छा स्पष्ट हो रही है। अमीना, अब तेरे कर्त्तव्य-पालन का मुहूर्त्त आ रहा है। अब ये खेल तुझे शोभा नहीं देते।"

दालिया उपस्थित था। अमीना ने देखा वह सकौतूक हँस रहा था। अमीना उसकी हँसी देखकर मर्माहत हुई। बोली—"जानते हो दालिया, मैं महारानी होने जा रही हूँ?"

दालिया बोला—"पर अधिक देर के लिये नहीं।"

यह उत्तर सुनकर अमीना ने पीड़ित, विस्मित चित्त से सोचा, 'सचमुच यह वन का मृग है। इससे मनुष्योचित व्यवहार करना मेरा पागलपन था।' उसने दालिया को और भी सचेत करने के लिये कहा—"राजा को मार कर क्या मैं वापस आ सकूँगी?"

दालिया ने स्थिति की गम्भीरता समझकर कहा—"लौटना मुश्किल तो है।"

अमीना का जी सूख गया। जुलेखा की ओर मुँह करके बोली—"मैं तैयार हूँ, दीदी।" फिर दालिया की ओर देखकर दुःखी हृदय लिये परिहास का ढोंग करते हुए कहा—"महारानी बनकर सबसे पहले मैं तुम्हें राजद्रोह के अपराध में सजा दूँगी!"

सुनकर, दालिया हँस पड़ा ।

(७)

अश्वारोही, पैदल, निशान, हाथी, वाद्य, रोशनी ! धीवर की कुटीर मानो टूट जायगी । राजमहल से दो स्वर्ण-मंडित शिविकायें आई हैं ।

अमीना ने जुलेखा के हाथ से छुरा ले लिया। वह उसकी हस्ति-दन्त-निर्मित कला बहुत देर तक देखती रही। उसके पश्चात् वसन उठाकर, सामने अपने वक्ष पर एक बार उसकी धार की परीक्षा कर ली । जीवन-मुकुल-वृन्त से एक बार छुरे का स्पर्श कर के कोष में रखकर उसे वसन में छिपा लिया ।

उसकी एकान्त इच्छा थी कि इस मरण-यात्रा के पूर्व एक बार दालिया से मिल ले, लेकिन वह कल से ही लापता था। शिविका में चढ़ने से पहले अमीना ने अश्रु-जल के भीतर से अन्तिम बार अपने बाल्य-काल के आश्रय को देखा । कुटीर, नदी, कैलू गाछ ! फिर धीवर का हाथ पकड़कर, वह रुद्ध गले से बोली—"तुम्हारी तिन्नि जा रही है बाबा ! अब तुम्हारा घर कौन देखेगा ?"

धीवर एकदम बच्चों की तरह रो पड़ा ।

अमीना बोली—"यदि दालिया आये तो उसे यह अँगूठी दे देना । कहना कि जाते वक्त तिन्नि दे गई थी ।" और फिर वह तेजी से शिविका में बैठ गई ।

महासमारोह के साथ शिविका नगर की ओर चली गई ।

अमीना की कुटीर, नदी-तीर, कैलू तरु-तल, सब अन्धकार में नीरव तथा जन-शून्य होगये ।

दोनों शिविकायें नगर का सिंहद्वार पार करके, महल के अन्तःपुर में पहुँचीं । दोनों बहनें शिविकाओं से उतरीं । अमीना के भावहीन मुख पर न तो हँसी थी और न विषाद । जुलेखा का मुख विवर्ण था । कर्त्तव्य जब दूर था, तो उसके उत्साह में तीव्रता थी । अब कंपित हृदय से, व्याकुल स्नेह से, उसने अमीना को सीने से लगा लिया । मन में उसने सोचा, 'नव प्रेम-वृन्त से इस कली को तोड़कर किस रक्त-स्रोत में बहाने जा रही हूँ !'

किन्तु अब सोचने का समय नहीं था । दासियों के सहारे दोनों बहनें शत-सहस्र दीपों के प्रकाश में स्वप्नाहत की तरह चल रही थीं । अन्त में अन्तःपुर के द्वार पर रुककर अमीना ने कहा--"दीदी !"

जुलेखा ने अमीना का आलिंगन कर के चुम्बन कर लिया ।

दोनों ने धीरे-धीरे राज-कक्ष में प्रवेश किया । राज-वस्त्र पहने पलंग पर राजा बैठे थे । अमीना संकोच से द्वार के समीप खड़ी थी । जुलेखा ने आगे बढ़कर राजा के निकट जाकर देखा--राजा सकौतूक हँस रहे हैं । जुलेखा चीख़ उठी--दालिया !"

अमीना मूर्छित होकर गिर पड़ी ।

दालिया उठकर, उसे आहत पक्षी की तरह गोद में लेकर, पलंग पर ले गया ।

अमीना ने होश में आकर छुरी निकालकर दीदी की ओर देखा। दीदी ने दालिया के मुँह की ओर देखा। दालिया निःशब्द हास्य के साथ दोनों को देखता रहा। छुरी भी इस रंग-ढंग को देखकर कोष में से थोड़ा-सा मुँह निकालकर, हँस उठी।

: ७ :

डिटेक्टिव

मैं पुलिस का डिटेक्टिव कर्मचारी था। मेरे जीवन में केवल दो लक्ष्य थे——मेरी स्त्री और मेरा व्यवसाय। पहले एकान्नवर्त्ती परिवार में था, पर वहाँ मेरी स्त्री के प्रति समादर न होते देख मैं बड़े भाई से झगड़ा कर अलग हो गया। बड़े भइया ही उपार्जन करके पाल रहे थे, अतः सहसा स्त्री सहित उनका आश्रय त्याग करना मेरे लिये दुःसाहस का काम हुआ था।

किन्तु अभी तो मेरा अपने ऊपर विश्वास कम नहीं था। मैं निश्चय कर चुका था, जैसे मैंने सुन्दरी स्त्री को मनाया है वैसे ही अदृश्य लक्ष्मी को भी मनाऊँगा। महिमचन्द्र इस जगत् में पीछे रहने वाला नहीं है।

पुलिस विभाग के सामान्य पद से डिटेक्टिव के पद तक उत्तीर्ण होते देर न लगी।

उज्ज्वल शिखा से जैसे काजल पड़ता है वैसे ही मेरी स्त्री के प्रेम में ईर्ष्या तथा सन्देह की कालिमा निकलती थी। उससे मेरे काम में कुछ बाधाएँ दिखाई देतीं। कारण, पुलिस के कामों में स्थानास्थान या कालाकाल के विचार करने से काम नहीं चलता, पर स्थान के अपेक्षा अस्थान और काल के अपेक्षा

अकाल की ही चर्चा अधिक करनी पड़ती है। इसमें मेरी स्त्री का स्वभाव-सिद्ध सन्देह और भी दुर्निवार हो उठता। वह मुझे भय दिखाने के लिए कहती—"तुम ऐसे जब तब, जहाँ-तहाँ रहते हो, कभी मुझसे मिल लेते हो, मेरे लिये तुम्हारे मन में आशंका नहीं होती ?" मैंने उससे कहा—"सन्देह करना मेरा व्यवसाय है, अतः घर में उसे नहीं लाना चाहता हूँ।" स्त्री कहती—"सन्देह करना मेरा व्यवसाय नहीं है। वह मेरा स्वभाव है—मुझे तुम अगर ज़रा भी सन्देह का कारण दोगे तो मैं सब कुछ कह सकती हूँ।"

डिटेक्टिव् लाईन में मैं सबसे बड़ा होऊँगा, अपना नाम रखूँगा, यह प्रतिज्ञा मेरी दृढ़ थी। इस सम्पर्क में जितने विवरण तथा कहानियाँ हैं उनमें से किसी को भी पढ़ने से न छोड़ा। परन्तु उन्हें पढ़कर केवल यह असन्तोष एवं अधीरता और भी बढ़ जाती। कारण, हमारे देश के अपराधी भीरु और निर्दोष होते हैं। उनके अपराध निर्जीव तथा सरल होते हैं, उनमें दुरूहता व दुर्गमता बिल्कुल नहीं रहती है। हमारे देश के खूनी नर रक्तपात की उत्कट उत्तेजना को किसी भी तरह से अपने मन में संवरण नहीं कर सकते। जालियात जो जाल-विस्तार करता है, अनतिबिलम्ब में वह स्वयं उस जाल में सिर से पैर तक जकड़ जाता है। ऐसे निर्जीव देश में डिटेक्टिव् के कामों में न तो सुख है, न गौरव। बड़े बाजार के मारवाड़ी जुए चोर को अनायास में गिरफ्तार करके कितनी दफे अपने मन में कहा, "अरे अपराधी, कुल कलंक, दूसरों का सत्यानास करना गुणी उस्तादों का काम है, तेरे जैसे अनाड़ी

को तो साधु तपस्वी होना था।" खूनी को पकड़कर उसके प्रति स्वगत उक्ति की, "गवर्नमेंट के समुन्नत फाँसी काष्ठ क्या तुम जैसे गौरव विहीन प्राणियों के लिए है! तुम्हारे में न कठोर आत्मसंयम है और न उदार कल्पना शक्ति ही, तुम खूनी होने से स्पर्धा करते हो!"

मैं कल्पना नेत्रों से जब लन्दन और पैरिस के जनाकीर्ण रास्तों के दोनों ओर की शीत व्याकुल अभ्रभेदी अट्टालिकाएँ देखता तो मेरा शरीर रोमाञ्चित हो उठता, मन-ही-मन सोचता इन अट्टालिकाओं में और राजपथ तथा उपपथों पर जैसे कर्मस्रोत, जन स्रोत, उत्सव स्रोत प्रतिदिन बह रहा है वैसे ही सर्वत्र एक हिंस्र, कुटिल, कृष्णकुञ्चित भयंकर अपराध-प्रवाह तले-तले अपना रास्ता करता हुआ बह रहा है, और उसी के समीप यूरोपीय सामाजिकता का हास्य-कौतुक कैसा विराट भीषण रमणीयता का रूप लिये हुए है। और हमारे कलकत्ते के रास्तों के पास मुक्त वातायनों में, गृह श्रेणी के अन्दर खाना-पकाना, गृह-कार्य, परीक्षा की पढ़ाई, ताश, शतरंज की बैठक, दाम्पत्य कलह, मातृविच्छेद एवं मुकदमे वालों के सिवाय और कुछ नहीं है—किसी भी घर की ओर देखकर मन में यह नहीं आयेगा कि शायद इसी मुहूर्त्त में गृहस्थ के कोई एक कोने में शैतान अपने काले-काले अंडों पर ताव दे रहा हो।

मैं अक्सर सड़क पर निकल राहगीरों के चाल-चलन तथा उनके मुख पर नज़र दिया करता—भावभंगी में जहाँ कहीं भी सन्देह होता मैं उनके पीछे चुपचाप हो लेता। उनके नाम-

धाम का पता लगाता और अन्त में परम नैराश्य के साथ आविष्कार करता कि वे निष्कलंक है, यहाँ तक कि उनके सगे सम्बन्धी भी अकेले में कोई गुरुतर या मिथ्या अपवाद प्रचार नहीं करते हैं। पथिकों में, जिनमें सबसे अधिक पाखण्ड प्रतीत हो, यहाँ तक कि जिसे देख मुझे दृढ़ विश्वास होजाता कि यह जरूर इसी वक्त कोई भयंकर अपराध करके आ रहा है, संधान करने पर मालूम होता, वह कोई स्कूल का सहायक अध्यापक है, तब पढ़ाकर आ रहा था। यह मनुष्य अन्य किसी देश में जन्म ग्रहण करने से अवश्य कोई विख्यात चोर या डकैत होता, केवल यथोचित जीवन शक्ति और यथेष्ट परिभाषा पौरुष के अभाव से ही ये हमारे देश में अध्यापकी कर वृद्ध वयस में पेंशन ले बैठते हैं। अनेक चेष्टा और सन्धान के बाद इस अध्यापक की निरीहता पर मुझे जैसी बड़ी अश्रद्धा हुई थी वैसी शायद एक साधारण चोर पर भी न हुई होगी।

अन्त में सन्ध्या के समय अपने घर से नज़दीक एक गैस-पोस्ट के नीचे एक आदमी को देखा, वेकाम वह बार-बार एक ही स्थान पर घूम रहा था। उसे देख मैं निःसन्देह हो गया कि यह ज़रूर कोई गोपन दुरभिसन्धि के पीछे नियुक्त है। नीचे अंधेरे में रहकर उसके चेहरे को एक बार गौर से देख लिया—तरुण उम्र, बोलने में भी सुन्दर;—मैं मन ही मन बोला, दुष्कर्म करने का यही तो उपयुक्त चेहरा है; निज की मुखश्री ही जिनकी सर्व प्रधान साक्षी है, उन्हें सर्व प्रकार के अपराध मूलक कामों से दूर रहना चाहिए—सत्कर्म करके वे निष्फल हो सकते हैं, किन्तु दुष्कर्म द्वारा सफलता भी दुराशामात्र है।

मैंने देखा इस छोकड़े का चेहरा ही उसकी सर्व प्रधान बहादुरी है। इसलिए मैंने मन-ही-मन उसकी तारीफ की और कहा, भगवान्, जो सुविधा तुमने दी है उसे पूर्ण रूप से काम में लगा सको तभी तो कहूँ कि शाबाश !

मैंने अंधेरे में से उसके सामने आकरपीठ पर चपत मारते हुए कहा--"यह रहे, कहो मजे में तो हो ?" वह प्रबल रूप से चौंक गया, उसका मुँह सफेद हो गया। मैंने कहा—"माफ कीजिएगा, भूल होगई है। एकाएक मैं आपको कोई दूसरा समझ बैठा।" मन में कहा—"भूल कुछ भी नहीं हुई है, जो सोचा था वही निकला, पर इतना अधिक चौक जाना भी उसके लिए अच्छा नहीं हुआ—इसके लिए मैं ज़रा क्षुब्ध भी हुआ, छोकड़े को अपने शरीर पर और भी काबू चाहिए था। किन्तु श्रेष्ठता का सम्पूर्ण आदर्श अपराधियों में बिरल है। चोर को संपूर्ण चोर करने में प्रकृति भी कृपणता करती है।

अन्तराल में आकर देखा, वह गैस पोस्ट छोड़कर चला गया है। पीछे-पीछे जाकर देखा वह 'गोलदिधि' के तालाब के किनारे घास पर चित्त पड़ा है। मैंने सोचा–उपाय चिन्ता करने का यही एक स्थान है। गैसपोस्ट के नीचे से यह कहीं अच्छा है। कोई अगर देखे तो यह सोच लेगा कि छोकड़ा अंधेरे में पड़ा अपनी प्रेयसी का चन्द्रमुख अंकित करता हुआ कृष्णपक्ष रात्रि के अभाव को पूर्ण कर रहा है। लड़के के प्रति मेरा चित्त उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा।

अनुसन्धान पूर्वक उसके वासस्थान का पता लगाया। मन्मथ उसका नाम है, वह कालेज का छात्र है। परीक्षा में

फेल होकर गर्मी की छुट्टियों में इधर-उधर घूम रहा है। उसके अन्य साथी सब गर्मी की छुट्टियों पर घर चले गए हैं। दीर्घ अवकाश पर जब सब छात्र ही वासस्थान छोड़कर चले गए हैं तो इसे कौन-सा दुष्ट ग्रह छुट्टी नहीं दे रहा है। उसे ढूंढ़ निकालने पर मैं कृत संकल्प हुआ।

मैं भी छात्र बनकर उसके वास स्थान पर रहने लगा। प्रथम दिन जब उसने मुझे देखा, तो एक अजीब भाव से उसने मेरी ओर देखा, वे भाव मुझे अच्छे नहीं लगे। मैं समझ गया कि शिकारी के उपयुक्त शिकार है। इसे सीधी तरह कायदे में नहीं लाया जाएगा। लेकिन जब उससे प्रणयबन्धन की चेष्टा की तो वह ज़रा भी नहीं हिचकिचाया था। परन्तु यह मुझे महसूस हुआ कि वह भी मुझे सदा तिरछी नज़रों से देखा करता है, शायद वह भी मुझे पहचानना चाहता है।

मनुष्य चरित्र के प्रति सदा सतर्क कौतूहल उस्ताद के लक्षण होते हैं। इतनी अल्प उम्र में ऐसी चातुरी देख बड़ा आनन्द हुआ। मन में विचार किया, बीच में एक रमणी न रहने से इस असाधारण अकाल-धूर्त्त लड़के के हृदयद्वार उद्घाटन करना सहज नहीं है। एक दिन मैंने गद्-गद् होकर कहा—"भाई, मुझे एक स्त्री से प्रेम है, पर वह मुझे प्यार नहीं करती।"

पहले तो वह ज़रा चकित-सा रह गया, इसके बाद मुस्कराकर बोला—"ऐसा दुर्योग बिरल है, इस प्रकार क कौतूक करने के लिए ही विधाता ने नर और नारी का भेद किया है।" मैंने कहा—"तुम्हारी सहायता और परामर्श

चाहिए ।" वह सम्मत होगया । मैंने बना-बनाकर खूब कहीं । उसने आग्रह से सुना सब, पर बोला अधिक नहीं । मेरी धारणा थी कि प्रेम की बातें विशेषकर, गर्हित प्रेम की बातों से मनुष्य से अन्तरंगता बढ़ती है । परन्तु यहाँ उसका व्यतिक्रम हुआ । लड़का पहले से और भी अधिक चुप हो गया । यद्यपि समस्त बातों की उसने गाँठ बाँध ली थी । उसके प्रति मेरी भक्ति की सीमा नहीं रही ।

इधर मन्मथ प्रतिदिन दरबाजा बन्द करके क्या करता है, उसकी गोपन अभिसन्धि कहां तक सफल हुई, मैं कुछ न जान सका । तथापि वह अग्रसर हो रहा था इसमें कोई सन्देह नहीं था । कोई एक निगूढ़ विषय में वह व्याप्त है और सम्प्रति वह विषय और भी अधिक परिपक्व हो गया है—यह उस नवयुवक के चेहरे को देखकर ही अन्दाज लगाया जा सकता है । मैं छिपकर उसके डेस्क खोलकर देख चुका हूँ । उसमें सिर्फ एक दुर्बोध कविताओं की कापी, कालेज के नोट तथा घर से आई हुई कई चिट्ठियों के सिवाय और कुछ नहीं है । घर से आई हुई चिट्ठियों से पता चलता है कि घर वाले उसे बार-बार घर आने के लिए लिख रहे हैं, तथापि घर न जाने का एक उपयुक्त संगत कारण जरूर होगा, और वह अगर न्यायसंगत होता तो बातों-बातों में जरूर मालूम हो जाता, पर उसके सम्पूर्ण विपरीत की सम्भावना होते हुए इस छोकड़े की गतिविधि, एवं इतिहास मेरे निकट एक निरातिशय कौतूहल होगया है; जो असमाजिक मनुष्य पताल में सम्पूर्ण रूप से रहकर सर्वदा इस वृहत मनुष्य-समाज को नीचे की

ओर से हिला रहा है, यह बालक उसी विश्वव्यापी बहु पुरातन वृहत जाति का एक अंग है, यह एक सामान्य कालेज का छात्र नहीं, यह जगत वक्ष विहारिणी सर्वनाशिनी का सहचर है, आधुनिक काल के चश्मे लगाए हुए बंगाली छात्र के वेष में कालेज में पढ़ रहा है, नृमुण्डधारी कपालिक के भेष में भी इसकी भैरवता मेरे निकट इतनी भैरवतर नहीं होती—में इससे भक्ति करता हूँ।

अन्त में सशरीर रमणी की अवतारणा करनी पड़ी। पुलिस की वेतन-भोगी हरिमति मेरी सहाय हुई। मन्मथ ने कहा मैं इस हरिमति का हतभाग्य प्रणयाकांक्षी हूँ। हरिमति को लक्ष्य करके मैं कई दिन 'गोलदिधि' के निकट मन्मथ के साथ रहकर "फिर क्यों नभ में सुधांसु उदय हुआ रे" कविता की बार-बार आवृत्ति करता—और हरिमति ने भी एक तरह के नाटकीय ढंग से कहा कि, वह अपना चित्त मन्मथ को समर्पण कर चुकी है। किन्तु अशानुरूप फल नहीं हुआ। मन्मथ निर्लिप्त, अविचिलित कौतूहल के साथ समस्त देखता रहा। इस समय एक दिन शाम को फर्श पर छिन्न पत्र के कई टुकड़े मिले, जिन्हें जोड़कर यह आशय निकला, "आज संध्या ७ बजे छिपकर तुम्हारे घर में—"बहुत ढूँढ़ने पर और कुछ नहीं मिला।

मेरा अन्तःकरण पुलकित हो उठा। माटी में से कोई विलुप्त वंश के प्राचीन प्राणी का केवल एक हाड़ पाकर मानव-विज्ञान की कल्पना जैसे महानन्द से जाग उठती है, वैसे ही मैं भी होगया।

मैं जानता था कि आज रात १० बजे हमारे हरिमति का

ग्राविर्भाव होने वाला है । इसलिए ग्राज ७ बजे क्या होता है, देखें । छोकड़े का जैसा साहस है वैसी ही बुद्धि । यदि कोई गोपन ग्रपराध का ही काम करता है तो ऐसे दिन कि जिस दिन कोई नयी चहल-पहल हो; प्रथमतः ऐसे दिन प्रधान चहल-पहल की ग्रोर ही सब झुके रहते हैं, द्वितीयतः जिस दिन जहां कोई विशेष समागम होता है वहाँ कोई इच्छापूर्वक छिपकर ग्रपराधमूलक कार्य करेगा, यह कोई सोच ही नहीं सकता ।

एकाएक मुझे सन्देह हुग्रा कि मेरे साथ मन्मथ ने की नयी दोस्ती एवं हरिमति के साथ प्रेमाभिनय, इसे भी मन्मथ ग्रपने कार्यसिद्ध का एक उपाय कर लिया है । इसलिए वह न तो पकड़ाव में ही ग्राता है ग्रौर न छोड़कर ही जाता है । हम लोगों ने उसके गोपन कार्य को सहारा दे रखा है। सब लोग सोचेंगे यह हमें ही लेकर है—यह भी इस भ्रम को दूर करना नहीं चाहता है ।

एक बार सारे तर्कों को सोचकर देखिए—जो विदेशी छात्र छुट्टी में भी घर वालों के ग्रनुनय-विनय की उपेक्षा कर विसर्जन स्थान में ग्रकेला रहता है, निर्जन स्थान उसे विशेष प्रिय है, पर मैंने उसके वासस्थान ग्राकर उसकी निर्जनता भंग की, एक रमणी की ग्रवतारणा करके नए उपद्रव किए, पर वह न तो विरक्त ही हुग्रा ग्रौर न हमारा साथ ही छोड़ा, ग्रौर यह भी सत्य है कि वह हमारे प्रति तिलमात्र भी ग्रासक्त नहीं वरन् उसकी ग्रसतर्क ग्रवस्था में बारम्बार मैंने लक्ष्य किया कि हमारे दोनों के प्रति उसकी ग्रान्तरिक घृणा क्रमशः वृद्धि

पा रही है । इसका एक मात्र तात्पर्य यह है कि सजनता के रहते हुए भी अगर निर्जनता की सुविधा भोग करनी हो तो मेरे जैसे नवपरिचित आदमी को ही निकट रखना सर्वपेक्षा सदुपाय है । इतिपूर्व मन्मथ के आचरण पर जो सन्देह के भाव थे वे मेरे आने के पश्चात् विलुप्त होगए । किन्तु इतनी दूर की बात एक मुहूर्त्त में विचारने वाला मतलबी आदमी हमारे बंगाल में जन्म ग्रहण कर सकता है, यह सोचकर मेरा हृदय उत्साह से पूर्ण हो गया । मन्मथ अगर कोई बाधा न देता तो मैं उसे दोनों हाथों से छाती से लगा लेता ।

उस दिन मन्मथ से मिलते हो कहा– आज सन्ध्या ७ बजे मैंने तुम्हें होटल में खाना खिलाने का निश्चय किया है ।" यह सुनकर वह चौंक उठा, फिर आत्म संवरण करके बोला—"भाई आज माफ कर दो, पेट ठीक नहीं है । होटल के खाने में मन्मथ की कभी अरुचि नहीं देखी, पर आज उसकी अन्तरेन्द्रिय निश्चय कोई दुरूह अवस्था में उपनीत होगी ।

उस दिन सन्ध्या के पूर्व भाग में मेरा वासा म रहना निश्चित था । परन्तु उस दिन मैं जान-बूझकर बहाने बनाकर शाम को उठने का नाम न ले रहा था । अन्त में घड़ी देखते हुए व्याकुल होकर उसने कहा—"आज हरिमति को लाने नहीं जाओगे ?" मैंने चौंककर कहा—"हाँ, हाँ यह तो मैं भूल ही गया था । भाई, तुम खाना पकाकर रखना मैं ठीक साढ़े दस बजे उसे ले आऊँगा ।" यह कहकर मैं चला आया ।

आनन्द का नशा मेरे समस्त शरीर पर संचरण करने लगा । सन्ध्या ७ बजे पर मन्मथ का जो आग्रह देखा मेरा औत्सुक्य

भा उससे कम न था। मैं अपने वासा से कुछ दूर अँधेरे में रह कर बार-बार घड़ी देख रहा था। गोधूली का अन्धकार घनीभूत होने पर जब गैस जलने का वक्त हुआ तो एक रूद्ध-द्वार पालकी हमारे होटल के अन्दर गई। उस आच्छन्न पालकी में एक अश्रुसिक्त अवगुन्ठित पाप, एक मूर्त्तिमती ट्रेजेडी को कालेज के छात्र-निवास में कई उड़ियों के कन्धों पर 'हांई' 'हांई' शब्दों से अनायास भाव से प्रवेश करते हुए देख मेरा समस्त शरीर पुलकित हो गया।

मैं और बिलम्ब न सह सका। बहुत देर बाद धीरे-धीरे सीढ़ी से दो तल्ले पर आ गया। इच्छा तो थी कि छिपकर सारी बातें देखूंगा, परन्तु वह न हो सका, कारण सामने घर में मन्मथ सीढ़ी की ओर मुँह करके बैठा था और विपरीत एक अवगुन्ठिता नारी मृदु स्वर में बातें कर रही थी। जब देखा कि मन्मथ मुझे देख चुका है तो जल्दी से घर में प्रवेश करके बोला--"भाई, मैं अपनी घड़ी भूल गया था उसे लेने आया हूँ।" मन्मथ इतना अभिभूत हो गया कि वह अभी फर्श पर पड़ जाएगा। मैंने कौतुक और आनन्द से व्यग्र होकर कहा, "क्यों भई, तुम्हारे कोई बीमारी हो गई है?" उसने कोई जवाब नहीं दिया। तब मैंने उस काष्ठ पुत्तलिकावत् नारी की ओर घूमकर पूछा—"आप मन्मथ की कौन होती हैं?" कोई जवाब नहीं मिला, किन्तु देखा, वह मन्मथ को कोई नहीं है मेरी ही स्त्री है! इसके बाद की घटना सब जानते हैं।"

यही मेरे डिटेक्टिव पद का प्रथम चोर पकड़ना है।

मैंने कुछ देर बाद डिटेक्टिव महिमचन्द्र से पूछा—

"मन्मथ के साथ तुम्हारी स्त्री का सम्बन्ध समाज विरुद्ध नहीं भी हो सकता है।"

महिम ने जवाब दिया—"न होना भी सम्भव है। मेरी स्त्री के बक्स में मन्मथ की यह चिट्ठी मिली है।" कहकर एक चिट्ठी मेरे हाथ में दी। वह नीचे प्रकाशित है।

सूचरितासु—

हतभाग्य मन्मथ को शायद तुम अब तक भूल गई होगी। बाल्यकाल में जब मामा के घर जाया करता तो सर्वदा तुम्हारे घर जाकर तुम्हारे साथ खेला करता। हमारा वह खेल, घर और वह खेल का सम्बन्ध अब टूट गया है। तुम जानती हो कि नहीं, एक बार मैंने निर्लज्ज होकर तुम्हारे साथ अपने विवाह का सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की थी, किन्तु हमारी उम्र एक होने के कारण यह सम्बन्ध न हो सका।

इसके बाद तुम्हारा विवाह हो गया और चार-पाँच वर्ष तक तुम्हारी कोई खबर नहीं मिली। आज पाँच महीनों से तुम्हारे पति पुलिस की ड्यूटी पर इस शहर में आए हुए हैं, यह समाचार मिलते ही मैंने तुम्हारा घर ढूँढ़ निकाला। तुम्हारे साथ साक्षात् की दुराशा मेरी नहीं है। भगवान जानते हैं, तुम्हारे गृहस्थ-सुख में उपद्रव की तरह प्रवेश करने की दुरभिसन्धि भी मेरी नहीं है। सन्ध्या के वक्त तुम्हारे घर के सामने गैसपोस्ट के नीचे सूर्योपासक की तरह खड़ा रहता हूँ। तुम ठीक संध्या साढ़े सात बजे मिट्टी के तेल का चिराग़ लेकर प्रत्यह नियमित रूप से दो तल्ला प्रदिक्षिण करके कोंच

की खिड़की के पास आती हो तो तुम्हारी दीपालोकित प्रतिमा मेरी दृष्टिपथ पर उद्भासित हो उठती है—तुम्हारे सम्बन्ध में बस यही मेरा एक अपराध है ।

घटनाचक्र से तुम्हारे पति से परिचय एवं घनिष्ठता हो गई । उसका चरित्र जैसा देखा, वैसा समझने में देर न लगी कि तुम सुखी नहीं हो । तुम्हारे पति पर मेरा कोई सामाजिक अधिकार नहीं है किन्तु विधाता ने तुम्हारे दुःखमोचन का भार मेरे उपर ही दिया है ।

अतः मेरी स्पर्धा माफकर शुक्रवार संध्या ७ बजे केवल २० मिनिट के लिए आओ तो मैं तुम्हें पति के बारे में कोई गोपनीय बातें बताऊँगा । यदि विश्वास न हो और सह्य कर सको तो मैं तुम्हें प्रमाण भी दे सकता हूँ और साथ-ही-साथ कुछ परमार्श भी देना चाहता हूँ । मैं भगवान को अन्तर में रखकर आशा करता हूँ कि उस परामर्श के अनुसार चलने पर तुम एक दिन सुखी हो सकोगी । मेरा उद्देश्य सम्पूर्ण निःस्वार्थ भी नहीं है । क्षण काल के लिए तुम्हें अपने सामने रखूँगा, तुम्हारे चरण-तल स्पर्श से अपना गृह चिरकाल के लिए सुख-स्वप्न मंडित करूँगा, यह आकांक्षा भी मेरे अन्तर में है । यदि मुझपर विश्वास न कर सको,यदि इस सुखसे मुझे वंचित करना चाहती हो तो मुझे लिख देना । मैं पत्र द्वारा सब कुछ लिखूँगा । यदि चिट्ठी लिखने का भी साहस न हो तो यह पत्र अपने पति को दे देना, उसके बाद सारी बातें उसी से ही कहूँगा ।

नित्य शुभाकांक्षी—

श्री मन्मथ कमार, मजुमदार

: ८ :

दान-प्रतिदान

बड़ी बहू के जो बाणवाक्य हैं वे जितने तीक्ष्ण हैं, उतने ही कड़ुये भी। जिस हतभागिनी के ऊपर उनका प्रयोग हुआ है, उसका चित्त रह-रह कर जल उठता है। विशेष रूप से बात उसके स्वामी को लक्ष्य करके कही गई थी और स्वामी राधामुकुन्द तब रात का भोजन करके थोड़ी ही दूर पर बैठे ताम्बूल के साथ ताम्रकूट धूम के द्वारा खाद्य परिपाक में प्रवृत्त थे। उन्होंने जब बड़ी बहू के मुँह से खरी-खोटी सुनी तो विशेष विचलित नहीं हुए और अविचलित गाम्भीर्य के साथ ताम्रकूट निःशेष करके प्रतिदिन की तरह सोने चले गये।

किन्तु इस तरह की असाधारण सहन-शक्ति की सभी लोगों से आशा नहीं की जा सकती। रासमणि ने शयनगृह में पति से ऐसा व्यवहार किया जो इतिपूर्व उसने कभी भी करने का साहस नहीं किया था। अन्य दिनों की तरह उसने पति की पद-सेवा नहीं की। आज आते ही शैय्या पर एक ओर सो गई और रोने लगी।

राधामुकुन्द इस ओर ध्यान न देकर सोने की योजना करने लगे किन्तु उनकी यह उदासीनता स्त्री के अधैर्य को और भी बढ़ा रही थी। देखकर वे मृद स्वर में

बोले कि उन्हें भोर में जल्दी उठना है इसलिए निद्रा आवश्यक है।

स्वामी के कण्ठ-स्वर से रासमणि का क्रन्दन उभड़ पड़ा। राधामुकुन्द ने पूछा—"क्या बात है?" रासमणि उत्कंठित स्वर में बोली—"सुना नहीं क्या?"

"सुना है किन्तु बड़ी बहू ने तो एक भी बात झूठी नहीं कही है। मैं क्या भैय्या के अन्न से प्रतिपालित नहीं हूँ? तुम्हारे कपड़े-लत्ते, आभूषण इत्यादि क्या मैं अपने बाप के घर से लाया हूँ। जो खाने और पहनने को देता है तो उसे भी खानें-पीने में शामिल कर लेना चाहिए।"

"ऐसे खाने-पहनने से क्या फायदा।"

"जीवित तो रहना है।"

"मृत्यु हो जाय तो ही अच्छा है।"

"जब तक पैसा नहीं आ रहा, तब तक सोने की कोशिश करो, आराम मिलेगा।" कहकर राधामुकुन्द उपदेश और दृष्टान्त के सामञ्जस्य-साधान में प्रवृत्त हो गये।

राधामुकुन्द और शशिभूषण सहोदर भाई नहीं हैं, नितान्त निकट का सम्पर्क भी नहीं है, प्रायः गांव का सम्पर्क कहा जा सकता है। किन्तु प्रीतिबन्धन सहोदर भाई से कम नहीं है। बड़ी बहू ब्रज सुन्दरी को यह कुछ असह्य लगता था। विशेषतः शशिभूषण जो छोटी बहू को देते थे, वही बड़ी बहू को भी देते थे, विशेष पक्षपात वे नहीं करते थे। जिस वस्तु का एक जोड़ा नहीं मिलता था, वह बड़ी बहू को न देकर छोटी बहू को ही दिया करते थे। इसके अलावा भी वे स्त्री के

अनुरोध की अपेक्षा राधामुकुन्द के परामर्श पर अधिक ज़ोर देते थे। शशिभूषण ढीले थे, इसलिए प्रायः सारा काम-काज राधामुकुन्द ही करता था। बड़ी बहू सर्वदा सन्देह करती कि राधामुकुन्द तले-तले उसके स्वामी को लूटने का आयोजन कर रहा है। किन्तु जब उनका सन्देह निर्मूल हो जाता तो उनकी क्रोधाग्नि राधामुकुन्द की ओर बरसती। उनकी यह आग बीच-बीच में वाक्य कटु-प्रहारों द्वारा ज्वालामुखी की तरह फट पड़ती।

रात को राधामुकुन्द पूरी तरह सो पाये या नहीं, कहा नहीं जा सकता। किन्तु सुबह उठते ही शशिभूषण के पास जा कर खड़े हो गये। शशिभूषण व्यस्त होकर बोले—"राधे, तुम आज ऐसे कैसे हो रहे हो ? तबियत ठीक है न ?"

राधामुकुन्द मृदुस्वर में धीरे-धीरे बोले—"भैया अब तो मेरा यहाँ रहना नहीं हो सकता।" यह कहकर गत संध्या की सारी घटना सुना दी।

शशिभूषण हँसकर बोले—"यह बात है ! यह तो कोई नई घटना नहीं है। वह तो दूसरों के घर की स्त्री है, अवसर पाते ही दो-चार बात कहेगी, इससे क्या अपने आदमी को घर छोड़ कर चला जाना चाहिए ? बातें तो मुझे भी बीच-बीच में सुननी पड़ती हैं किन्तु उसी से मैं परिवार को थोड़े ही छोड़कर चला जाऊँ ?"

राधा बोले—"औरत की बात क्या मैं अब नहीं सुन सकता, किन्तु पुरुष होकर जन्म लेने से क्या फायदा! मुझे डर लगता है कहीं मेरे कारण तुम्हारे घर में अशांति न हो।"

शशिभूषण बोले–"तुम चले जाओगे, लेकिन मुझे कैसे शांति रहेगी।"

इसके बाद अधिक बातें नहीं हुई। राधामुकुन्द धीरे-धीरे उठकर चले गये। उनका हृदयभार पूर्ववत बना रहा।

इधर बड़ी बहू का आक्रोश क्रमश; बढ़ रहा है। जब भी अवसर मिलता है राधामुकुन्द को दो-चार खरी-खोटी सुना देती है। अपने वाक्य-वाणों से रासमणि को भी शरशय्या शायी कर देती है। राधामुकुन्द भी वैसे ही चुपचाप तम्बाकू पीते हैं और स्त्री को क्रन्दनोन्मुखी देखते ही जाते हैं। किन्तु ऐसा लगता है उनको भी यह असह्य लगने लगता है।

किन्तु शशिभूषण से उनका सम्पर्क आज का नहीं है— दोनों भाई एक साथ गुरूजी की पाठशाला में पढ़े हैं और कभी-कभी परामर्श कर स्कूल से भागकर दोनों ग्वालों के साथ खेलते रहे हैं। एक बिछौने पर सोकर मौसी से कहानी सुना करते थे, घर के लोगों से छिपकर रात को नाटक देखने जाते और सुबह पकड़े जाने पर दोनों को समान दण्ड मिलता– तब कहाँ थी ब्रज सुन्दरी और दूसरी रासमणि ? जीवन के इतने दिनों को क्या एक दिन में विच्छिन्न किया जा सकता है। किन्तु यह बन्धन स्वार्थपरता का बन्धन है, यह प्रीति परान्न प्रत्यर्पण का उद्गम है इसका आभास मात्र ही उन्हें विष तुल्य लगता। किन्तु इसी समय एक घटना घटी।

जब की बात कह रहा हूँ उस वक्त निर्दिष्ट दिन के सूर्यास्त के पहले यदि सरकारी लगान नहीं दिया जाता तो जमींदार की सम्पत्ति नीलाम हो जाती थी।

एक दिन खबर मिली कि शशिभूषण की जमींदारी नीलाम हो गई। राधामुकुन्द अपने स्वाभाविक मृदुस्वर में बोले—

"दोष मेरा ही है।"

शशिभूषण बोले—"इसमें तुम्हारा क्या दोष है ? तुमने तो लगान भेज दिया था, रास्ते में डाकुओं ने लूट लिया। इसमें तुम्हारा क्या दोष हो सकता है ?" दोष किसका है यह सोचना वक्त वर्बाद करना है। इस समय तो परिवार को चलाना है। शशिभूषण सहसा कुछ करेंगे ऐसा उनका स्वभाव नहीं हैं, वे मानो तालाब की फिसलनी सीढ़ी से फिसल कर गिर पड़े। शशिभूषण स्त्री के गहनों को बन्धक रखने के उपयोगी हुए। किन्तु राधामुकुन्द ने एक थैली रुपयों की लाकर उनके सामने रख दी। उन्होंने पहले ही स्त्री के गहनों को बन्धक में रखकर रुपया संग्रह किया था।

परिवार में एक बड़ा परिवर्तन आया। भले समय में गृहणी जिसे दूर करने पर तुली हुई हुई थी, संकटकाल में उसे ही व्याकुलता के साथ ग्रहण किया। इस समय दोनों भाइयों में से किस पर निर्भर रहा जा सकता है यह समझते उन्हें देर न लगी। राधामुकुन्द के प्रति कभी तिल मात्र भी विद्वेष था, उसका प्रकाश अब नहीं करती थी।

राधामुकुन्द पहले से ही स्वाधीन रूप से उपार्जन के लिए प्रस्तुत हुए थे। नज़दीक के शहर में मुरकारी करने लगे थे। धीरे-धीरे उनका काम जम गया और उन्हें बड़े-बड़े जमींदारों के यहाँ से कार्यभार मिलने लग गया।

अब रासमणि की अवस्था पहले से बहुत विपरीत है। अब रासमणि के पति के अन्न से ही शशिभूषण और व्रज-सुन्दरी प्रतिपालित हैं। इस बात को लेकर कभी उसने गर्व किया या नहीं यह तो मालूम नहीं, किन्तु किसी दिन बड़ी बहू की इच्छा के विरुद्ध उसने कुछ कहा था। किन्तु वह केवल एक दिन के लिए ही कहा था, दूसरे दिन से छोटी बहू और भी अधिक नम्र हो गयी। कारण, वह बात राधामुकुन्द के कानों में पहुंच गई थी। उसी रात में राधामुकन्द ने छोटी बहू को उसके बाप के घर पहुँचा देने की व्यवस्था कर दी थी और सात दिन तक उसका मुँह नहीं देखा था। अन्त में व्रज सुन्दरी ने विनती कर दम्पत्ति का मिलन करवाया था।

राधामुकुन्द परिवार के खर्च के लिए सारा रूपया व्रज-सुन्दरी को दे देते थे। रासमणि अपनी आवश्यकता अनुसार बड़ी बहू से ले लिया करती। घर में बड़ी बहू का मान पहले से अधिक था।

शशिभूषण के मुँह की सहज प्रफुल्ल हँसी तो पहले जैसी ही थी किन्तु भीतरी बीमारी से प्रतिदिन कृश होते जा रहे थे। और किसी ने यह सब नहीं देखा था, केवल भैया का चेहरा देख गहरी रात को रासमणि जागकर देखती कि राधामु-कुन्द दीर्घ स्वाँस लेते हुए करवटें बदल रहे हैं।

राधामुकुन्द शशिभूषण को धीरज देते, "तुम्हें कोई चिन्ता नहीं भैया, तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति मैं लौटा लाऊँगा—अब अधिक देर नहीं है।" और सचमुच अधिक देर भी नहीं लगी। शशि-भूषण की जमींदारी जिसने नीलाम में खरीदी थी वह व्यव-

सायी था, जमींदारी के काम-काज में अनभिज्ञ। सम्मान के लाभ में खरीद लिया था, किन्तु सदर का लगान घर से ही देना पड़ता, जमींदारी से नफा बिलकुल नहीं होता था। राधामुकुन्द वर्ष में एक-दो बार लठैत लेकर लूटकर लगान ले आते। प्रजा भी उन्हें मानती थी। व्यवसायी जमींदार को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। राधामुकुन्द के परामर्श से जमींदारी की प्रजा व्यवसायी जमींदार के विरुद्ध आचरण करने लगी।

अन्त में वह विचार इस झंझट से निष्कृति के लिए उत्सुक हो उठा। राधामुकुन्द ने नाममात्र मूल्य से पूर्व सम्पत्ति खरीद ली।

इस बीच दस वर्ष बीत गये थे। इन दस वर्षों में शशिभूषण अन्तरसूक्ष्म मानसिक वाष्पयान पर चढ़कर मानो बार्धक्य के बीचों बीच पहुँच गये थे। पैतक सम्पत्ति पाकर वे इतने आनन्दित नहीं हुए। बहुत बहुत दिन अव्यवहार से हृदयवीणा विकल हो गयी है, अब सहस्र बार तार खींचने पर भी पहले जैसा स्वर नहीं निकलेगा।

गाँवों के लागों ने आनन्द प्रकट किया। शशिभूषण से भोज का आयोजन करने के लिए कहने लगे। शशिभूषण ने राधामुकन्द से पूछा, "क्या कहते हो, भाई ?"

राधामुकुन्द बोले, "अवश्य ! शुभदिन पर अवश्य आनन्द मनाना चाहिए।"

गांव में ऐसा भोज कभी नहीं हुआ था। गाँव का प्रत्येक आदमी निमंत्रित होकर आया था। ब्राह्मणों को दक्षिणा और

गरीबों को वस्त्र और भोजन दिया गया। वे लोग आशिर्वाद करते हुए गये।

शीतकाल के आरम्भ में मौसम खराब था। उसके ऊपर तीन दिन तक भोज रहा, जिसमें शशिभूषण ने अति परिश्रम किया था। उनका भग्न शरीर इस परिश्रम को नहीं सह सका। वे शैय्याशायी हुए। कंपकंपी के साथ बुखार आता था। वैद्य ने कहा—"बड़ी कठिन बीमारी है।"

रात के दूसरे-तीसरे पहर रोगी के घर से सब को बाहर निकाल कर राधामुकुन्द बोले, "भैया, आपकी अनुपस्थिति में सम्पत्ति का अंश किसको कितना देना होगा, इस बारे में उपदेश दीजिए।"

शशिभूषण बोले, "भाई मेरे पास क्या है जो किसी को दूँ।"

राधामुकुन्द बोले,—"सब तो आपका है।"

शशिभूषण बोले– "एक समय मेरा था, अब कुछ नहीं है।"

राधामुकुन्द बहुत देर तक चुप बैठे रहे, फिर जब शशिभूषण को स्वाँस लेने में कष्ट होने लगा तो राधामुकन्द उठ कर रोगी के पैर पकड़ कर बोले—"भैया, मैंने जो महापाप किया है वह कहूँ, और तो समय नहीं मिलेगा।"

शशिभूषण कुछ नहीं बोले। राधामुकन्द कहने लगे उसी शाँत स्वभाविक भाव से, केवल बीच बीच में एक दीर्घ स्वाँस छोड़ देते थे। वे बोले–"भैया, मैं अच्छी तरह सब कुछ कह सकूँ इतनी क्षमता मुझ में नहीं है। मेरे मत का यथार्थ भाव एक अन्तर्यामी जानते हैं और पृथ्वी पर कोई जान सकता है तो तुम

हो। बाल्यकाल से मेरे और तुम्हारे अन्तर में कोई भेद नहीं था। केवल बाहर का भेद था। तुम धनी और मैं दरिद्र था। जब देखा की इस सामान्य कारण से मेरे और तुम्हारे बीच विच्छेद की संभावना क्रमशः स्पष्ट हो रही है तो मैंने ही उस भेद को मिटा दिया था। मैंने ही तुम्हारा लगान लुटवाकर तुम्हारी सम्पत्ति नीलाम करवा दी थी।"

शशिभूषण ज़रा भी विस्मित न होकर बोले, "अच्छा ही किया था भाई, किन्तु जिस लिये ऐसा किया था वह सफल नहीं हुआ। अपने पास क्या रख पाये। दयामय हरि!"

शशिभूषण के प्राशान्त मृदुहास्य के ऊपर दोनों आँखों से दो बंद आँसू टपक पड़े।

राधामुकुन्द उसके पैरों पर माथा रखकर बोले,—"भैया, क्षमा कर दिया तो!"

शशिभूषण उसे नज़दीक बुलाकर उसका हाथ पकड़कर बोले—"भाई, यह बात मैं पहले से ही जानता था। तुमने जिन लोगों के साथ षड्यंत्र किया था उन्हीं लोगों ने मुझसे कहा था। मैंने तभी तुम्हें माफ कर दिया था।"

राधामुकुद दोनों हाथों से मुँह ढंककर रोने लगे। बहुत देर बाद बोले–"माफ यदि कर दिया है तो अपनी यह सम्पत्ति तुम ग्रहण करो। रुष्ट होकर इसे लौटाओ मत।"

शशिभूषण उत्तर नहीं दे सके—उनकी वाक्शक्ति लोप हो गई थी। राधामुकुन्द की ओर अनिमेष दृष्टि से देखकर दाहिना हाथ उठाया। इसका क्या अर्थ यह हुआ कि समझ में नहीं आया। किन्तु राधामुकुन्द संभवतः इसका अर्थ समझ गये थे।

: ९ :

लेन-देन

पाँच लड़कों के बाद जब एक कन्या का जन्म हुआ तो माँ-बाप ने बड़े चाव से उसका नाम रखा 'निरुपमा'। इस परिवार में ऐसा सुन्दर नाम किसी का नहीं रखा गया था। प्रायः देवी-देवताओं के नाम ही प्रचलित थे, जैसे—गणेश, कार्तिक, पार्वती इत्यादि।

अब निरुपमा के ब्याह की बात चल रही है। उसके पिता रामसुन्दर ने बहुत खोज की। किन्तु, उनको पसन्द का वर कहीं नहीं मिला। अन्त में किसी रायबहादुर के एकमात्र पुत्र का सँधान मिला। यद्यपि रायबहादुर को पैतृक सम्पत्ति पहले से बहुत कम हो गयी थी फिर भी वंशमर्यादा उतनी ही ऊँची थी।

वर पक्ष की तरफ से दस हजार रुपये का दहेज और बहुत-सी दान सामग्री की मांग की गयी। रामसुन्दर ने बिना सोचे ही दहेज और दान सामग्री देने का वचन दे दिया। आखिर ऐसा दूल्हा मिलेगा कहां!

रामसुन्दर किसी तरह से भी रुपयों की व्यवस्था नहीं कर सके। गिरवी रखकर, कर्ज़ लेकर भी सात हजार रुपये घट रहे थे। इधर ब्याह का दिन भी नज़दीक आ रहा था।

अन्त में ब्याह का दिन भी आ गया। बहुत अधिक ब्याज पर एक आदमी रुपया उधार देने की स्वीकृति दे गया था, किन्तु मौके पर वह भी नहीं आया। ब्याह-मण्डप में भारी गोलमाल होने लगा। रामसुन्दर ने रायबहादुर के पैर पकड़ लिये। बोले शुभ कार्य सम्पन्न होते ही मैं रुपया दे दूंगा। रायबहादुर बोले—जब तक रुपये नहीं मिलेंगे तब तक दूल्हा मण्डप के भीतर नहीं जायगा। इस दुर्घटना से अन्तःपुर में हलचल मच गई। ऐसी परिस्थिति में जो इस इस घटना की नायिका थी वह चुपचाप बैठी थी। अपने भावी श्वसुर कुल के प्रति उसके मन में भक्ति पैदा हो रही थी या अनुराग, कहना मुश्किल है।

इस बीच एक सुविधा हुई। दूल्हा सहसा अपने पितृदेव का अबाध्य हो उठा। बोला—"लेन-देन के बारे में कुछ नहीं जानता, मैं ब्याह करने आया हूँ, ब्याह करके चला जाऊँगा।" उसके पिता जिसे देखते थे उसी से कहते—"महाशय जी, आपने देखा न, आजकल के लड़कों के व्यवहार को।" दो-एक प्रवीण व्यक्ति थे। बोले—"शास्त्र-शिक्षा, नीति-शिक्षा एकदम नहीं रही।"

वर्तमान शिक्षा का विषमय फल अपनी ही सन्तान में प्रत्यक्ष देखकर रायबहादुर हताश हो गये। विवाह किसी तरह से सम्पन्न हुआ। निरूपमा जब ससुराल जाने लगी तो पिता अपनी कन्या को छाती से लगाकर रोने लगे। नीरू ने पूछा—"बापू, वे लोग क्या अब मुझे आने देंगे?" रामसुन्दर बोले—"क्यों नहीं बेटी, मैं तुम को ले आऊँगा।"

रामसुन्दर प्रायः कन्या के घर जाते हैं किन्तु वहाँ उनका यथोचित सम्मान नहीं होता। कभी वे निरूपमा से मिल पाते, कभी ऐसे ही लौट आना पड़ता। कुटुम्बी के यहाँ अपमान नहीं सहा जाता। इसलिए रामसुन्दर ने निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो, दहेज के रुपये चुकाने ही पड़ेंगे। किन्तु ऋण पहले से चढ़ा हुआ है उसका भार ही असह्य हो रहा था। कर्ज़दारों को रामसुन्दर नाना प्रकार के हीन कौशलों से दूर रखते।

इधर ससुराल में उठते-बैठते निरुपमा को खरी-खोटी सुननी पड़ रही थी। पितृगृह की निन्दा सुनकर रोना उसका नित्य का काम हो गया था।

विशेष रूप से सास का आक्रोश किसी भी तरह से नहीं मिट रहा था। यदि कोई कहता, आहा, बहू कितनी सुन्दर है ? तो सास झट कहती–"जैसे घर की बहू है वैसी ही सुन्दर न होगी।" बहू के खाने-पीने की भी कोई चिन्ता न करता था। यदि कोई दयापरतन्त्र प्रतिवेशिनी किसी त्रुटि का उल्लेख करती तो सास कहती–"जो मिलता है वही बहुत है।" अर्थात् इसका बाप यदि पूरा देता तो यह भी पूरा आदर पाती। सभी ऐसा भाव दिखाते कि बहू का यहाँ कोई अधिकार नहीं है, मानो वह धोखे से यहाँ आ गई है।

शायद रामसुन्दर के कानों में कन्या के अनादर की बात पहुँची थी, इसीलिए वे मकान बेचने की व्यवस्था करने लगे। किन्तु यह बात उन्होंने अपने लड़कों से नहीं कही। उन्होंने स्थिर किया था कि मकान को बेचकर उसे फिर भाडे पर

ले लेंग ताकि लोगों को पता न चले। किन्तु लड़कों को पता चल गया। वे आये और रोने लगे। विशेष रूप से तीन लड़के, जिनकी शादी हो चुकी थी, की ओर से मकान बेचने के विरुद्ध प्रबल आपत्ति थी। इसलिए मकान बेचना स्थगित रहा। तब रामसुन्दर चारों ओर से रुपये उधार लेने लगे।

निरूपमा पिता का मुंह देखकर सब समझ जाती। वृद्ध बाप के शुष्क मुख और सदा संकुचित भाव से दैन्य तथा दुश्चिन्ता स्पष्ट दीख जाती थी। अपनी लड़की के निकट जब बाप अपराधी हो, तो उस अपराध के अनुताप को कहां तक छिपाया जा सकता है। रामसुन्दर जब ससुर की अनुमति से निरूपमा से मिलते तो उनका हृदय किस तरह तड़फता इसका उनकी हँसी देखकर ही अन्दाज किया जा सकता है। तभी निरूपमा पिता के व्यथित हृदय को शान्त करने के लिए पितृगृह जाने के लिए अधीर हो उठती। पिता का म्लानमुख देखकर वह दूर नहीं रह सकती थी। एक दिन रामसुन्दर से बोली—"बापू, मुझे एक बार घर ले चलो।" रामसुन्दर बोले—"अच्छा!"

किन्तु रामसुन्दर का कोई वश नहीं था। अपनी बेटी पर उनका जो स्वाभाविक अधिकार था वह मानो दहेज के रुपयों के बदले गिरवी रखा जा चुका था। यहाँ तक कि कन्या का दर्शन भी उन्हें अति संकोच के साथ माँगना पड़ता था। किन्तु लड़की अपने घर आना चाहे तो पिता उसे बिना लाये कैसे रह सकते हैं। इसलिए रामसुन्दर ने कितनी ही हीनता और अपमान

सहकर तीन हजार रुपये इकट्ठे किये। वह इतिहास यदि गुप्त ही रहे तो अच्छा है।

रुपयों को रूमाल में बाँधकर और चद्दर में लपेटकर रामसुन्दर कुटुम्बी के यहाँ गये। पहले हँसकर उन्होंने पास-पड़ोस के समाचार कहे। हरेकृष्ण के घर पर चोरी हो गयी थी। उसकी बात शुरू से अन्त तक कही। नवीन माधव और राधामाधव दोनों भाइयों की तुलना करके विद्या बुद्धि और स्वभाव के बारे में राधामाधव की बड़ाई और नवीनमाधव की निन्दा की। शहर में एक नई बीमारी का प्रादुर्भाव हुआ है, इसके बारे में सुनी हुई बात की। अन्त में हुक्के को एक ओर रखकर बोले—"अरे हाँ, वे रुपये बाकी पड़े हैं। रोज ही सोचता हूँ कि जा रहा हूँ, कुछ साथ ले लूँ, किन्तु समय पर कुछ याद ही नहीं रहता। और भैया, अब तो बूढ़ा हो चुका हूँ।" ऐसी एक दीर्घ भूमिका के बाद पंजर के तीन हाड़ की तरह तीन नोट मानो अति सहज और सरलता से निकाल लिये। सिर्फ तीन हजार रुपये देखकर, रायबहादुर अट्टहास कर उठे। बोले—"रहने दो भाई, इसकी मुझे ज़रूरत नहीं है।" एक प्रचलित लोकोक्ति का उल्लेख करके बोले कि सामान्य वस्तु के लिए वे अपने हाथ मैले नहीं करना चाहते।

इस घटना के बाद कन्या को घर ले जाने का प्रस्ताव कोई कर ही नहीं सकता। सिर्फ रामसुन्दर ही ऐसे थे जिन्होंने सोचा, 'अब कुटुम्बिता का संकोच मुझे शोभा नहीं देता।' उन्होंने मर्माहत की तरह बहुत देर तक चुप रहने के बाद अन्त में धीरे से अपना उद्देश्य कहा। रायबहादुर कोई कारण का उल्लेख

न करके ही बोले–"वह अभी नहीं होगा" और काम के बहाने अन्यत्र चले गये।

रामसुन्दर कन्या के निकट न जाकर कम्पित हाथों से नोटों को पुनः बाँधकर घर लौट आये। मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि जब तक सारे रुपये नहीं दे दूँगा तब तक कन्या के घर नहीं जाऊँगा। इस तरह बहुत दिन बीत गये। निरुपमा पिता के पास आदमी भेजती, किन्तु वे नहीं आते। अन्त में अभिमान करके निरुपमा ने आदमी भेजना बन्द कर दिया। यह देखकर रामसुन्दर को दुःख हुआ, किन्तु फिर भी वह नहीं गये।

आश्विन महीने में रामसुन्दर ने प्रतिज्ञा कर ली कि इस बार निरुपमा को दुर्गापूजा के अवसर पर जरूर ले आऊँगा। पँचमी या षष्ठी के दिन पुनः रुपये लेकर कुटुम्बी के यहाँ जाने का आयोजन कर रहे थे। इसी समय पाँच वर्ष की नातिन आकर बोली––"दादा, मेरे लिये साड़ी खरीदने जा रहे हो?" छः वर्ष की नातिन ने एक साड़ी की माँग की। उसके पास पूजा पर पहनने के लिए कोई भी अच्छी साड़ी नहीं थी।

रामसुन्दर यह जानते थे और इसके बारे में सोचते भी थे। किन्तु इसमें उनके ललाट पर वार्द्धक्य की रेखा गम्भीरतर रूप से अंकित होने के सिवाय और कोई रास्ता न निकलता।

दैन्यपीड़ित गृह की क्रन्दन-ध्वनि को कानों से सुनते हुए रामसुन्दर रायबहादुर घर के भीतर गये। आज उनके चेहरे पर संकोच के चिह्न नहीं हैं। वे मानो अपने ही घर में प्रवेश कर रहे हैं। उन्होंने सुना कि रायबहादुर घर पर नहीं हैं, बैठना पड़ेगा। अपने आनन्द को छिपाने में असमर्थ होकर वे

बेटी से मिले। आनन्द से उनकी दोनों आँखों से जलधारा बहने लगी। बाप और बेटी दोनों रो रहे थे। रामसुन्दर बोले–"इस बार तुम्हें ले जाऊँगा बेटी! अब कोई बाधा नहीं है।"

इसी समय रामसुन्दर का बड़ा लड़का हरमोहन अपने दो छोटे बच्चों को साथ लेकर सहसा घर के भीतर आया। पिता से बोला––"अब तो आपने हम लोगों को रास्ते पर ही खड़ा कर दिया!"

रामसुन्दर सहसा अग्निमूर्ति होकर बोले––"तुम लोगों के लिए क्या मैं नरक में जाऊँ? तुम लोग मुझे सत्य भी पालन नहीं करने दोगे?" रामसुन्दर मकान बेच आये थे। लड़के किसी तरह भी यह बात न जान सकें इसकी व्यवस्था भी वे कर आये थे, किन्तु फिर भी बात छिपी न रही। यह देखकर रामसुन्दर को बहुत क्रोध आ रहा था।

निरुपमा सारी बात समझ गयी। पिता से बोली––"बापू तुमने यदि मेरे ससुर को एक पैसा भी दिया तो मैं तुम्हारा शरीर स्पर्श करके कहती हूँ कि तुम अपनी कन्या को फिर कभी नहीं देख सकोगें।"

रामसुन्दर बोले–"ऐसा नहीं कहा करते बेटी। ये रुपये यदि मैं न दूं तो इससे तुम्हारे पिता का अपमान होगा और तुम्हारा भी।" निरुपमा बोली–"रुपये यदि दोगे तभी अपमान होगा। तुम्हारी बेटी की क्या कोई मर्यादा नहीं? मैं क्या रुपयों की थैली हूँ, जिसका जब तक रुपया रहता है तभी तक मोल रहता है? नहीं बापू, ये रुपये देकर तुम मेरा अपमान मत करो। फिर, मेरे स्वामी तो ये रुपये नहीं चाहते हैं।"

रामसुन्दर बोले–"तब तो ये लोग तुम्हें जाने नहीं देंगे।'

निरुपमा बोली–"नहीं देंगे तो क्या उपाय है? तुम भी मुझे मत लेने आया करो।"

रामसुन्दर कम्पित हाथों से अपनी चद्दर को कन्धे पर डालकर चुपचाप लौट आये।

किन्तु रामसुन्दर रुपये लाये थे और कन्या के कहने पर लौट गये यह बात छिपी नहीं रही। किसी स्वभाव-कौतूहली दासी ने सुनकर ये बात निरुपमा की सास से कह दी। सुनकर सास के आक्रोश की सीमा न रही।

निरुपमा के लिए श्वसुरालय शरशय्या हो उठा। उसके पति डिप्टी मैजिस्ट्रेट होकर अन्यत्र चले गये थे। निरुपमा के घरवाले उससे नहीं मिल सकते थे।

इसी समय निरुपमा को एक भारी पीड़ा शुरू हुई। वह अपने शरीर के प्रति बिलकुल ध्यान नहीं देती थी। उसके मन में यह संस्कार बद्धमूल हो गया कि वह दूसरे के घर में दासी, बाँदी की तरह रह रही है। किन्तु सास से यह भी सहा नहीं गया। बोलीं–"नवाबजादी है इसलिए गरीब के घर का भोजन अच्छा नहीं लगता है।" कभी कहतीं–"ढोंग देखो इसको, दिन पर दिन लकड़ी होती जा रही है।"

रोग जब बहुत बढ़ गया तो सास बोलीं–"यह सब इसका ढोंग है।"

अन्त में एक दिन निरुपमा नें सविनय कहा–"पिताजी से और अपने भाइयों से एक बार मिलना चाहती हूँ, माँ!" सास

बोलीं—"यह सब बाप के घर जाने का छल है।"

कोई कहे तो विश्वास नहीं होगा—जिस दिन सन्ध्या को नीरू की साँस उखड़ने लगी उसी दिन पहली बार डाक्टर उसे देखने आया। यही अन्तिम देखना था।

घर की बड़ी बहू मरी है, खूब धूमधाम से अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हुई। रामसुन्दर को सान्त्वना देते वक्त, उसकी बेटी की कैसी समारोहपूर्ण मृत्यु हुई है, सभी लोगों ने इसका वर्णन किया।

इधर डिप्टी मैजिस्ट्रेट का पत्र आया—"मैंने यहां सब बन्दोबस्त कर लिया है; अविलम्ब मेरी स्त्री को यहाँ भेज दीजिये।" रायबहादुर की पत्नी ने लिखवाया—"बेटा, तुम्हारे लिए और एक लड़की देख रखी है। छुट्टी लेकर तुरन्त चले आओ।"

इस बार बीस हजार का दहेज और वह भी हाथों हाथ।

: १० :

रामकनाई की निर्बुद्धिता

जो लोग यह कहते हैं कि गुरुचरण की मृत्यु के समय उनकी द्वितीय पक्ष की स्त्री अंत:पुर में बैठकर ताश खेल रही थी, वे लोग विश्व निन्दक हैं, तिल का ताड़ करना ही उनका स्वभाव है। असल में गृहिणी उस वक्त एक पैर पर बैठकर दूसरे पैर के घुटनों पर ठोढ़ी रख कर कच्ची ईमली, हरी मिर्च और मछली से भात खा रही थी। बाहर से जब बुलाहट हुई तो अन्नपात्र को छोड़कर गंभीर भाव से कहा, थोड़ा भोजन करूँ, इसको भी फुर्सत नहीं है।

इधर जब डाक्टर ने जबाव दे दिया तो गुरूचरण के भाई रामकनाई रोगी के पास बैठकर धीरे-धीरे बोले–दादा यदि तुम कोई बसीयतनामा लिखवाना चाहते हो तो बोलो। गुरुचरण क्षीण स्वर में बोले–"मैं कह रहा हूँ तुम लिख लो।" गुरचरण बोले–"मेरी स्थावर-अस्थावर सारी संपत्ति मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती वरदा सुंदरी को दे जाता हूँ। रामकनाई ने लिखा जरूर, किन्तु ये शब्द लिखने के लिए उनकी कलम नहीं सरक रही थी। उनको बड़ी आशा थी कि उनका एकमात्र पुत्र नवद्वीप अपने ताऊ की सारी संपत्ति का अधिकारी होगा। यद्यपि दोनों भाई अलग रहते थे फिर भी

इसी आशा से नवद्वीप की मां ने नवद्वीप को नौकरी नहीं करने दी थी और जल्दी ही उसका ब्याह भी कर दिया था, किन्तु फिर भी रामकनाई ने लिखा और दस्तखत करने के लिए दादा के हाथ में कलम भी पकड़ा दी। गुरुचरण के निर्जीव हाथों ने जो दस्तखत किए वह कुछ कम्पित वक्र रेखा हुई या उनका नाम समझना दुःसाध्य हो गया।

भोजन करके जब स्त्री आई तो गुरुचरण के वाक् रुद्ध हो चुके थे। यह देखकर उनकी स्त्री रोनी लगी। जो लोग विषय संपत्ति से वंचित हो गए थे, वे इस रुदन को ढोंग कहने लगे। किन्तु यह विश्वास के योग्य नहीं है।

वसीयतनामे का वृत्तान्त सुनकर नवद्वीप की मां दौड़कर आई और बोली—मृत्यु के समय इस तरह बुद्धिनाश हुआ करता है। ऐसा सोने जैसा भतीजा रहते····।

रामकनाई स्त्री की श्रद्धा करते थे। भाषान्तर में इस श्रद्धा को भय भी कहा जा सकता है, किन्तु वह इस उक्ति को सहन नहीं कर सके। दौड़कर आकर बोले—"बहू, तुम्हारी बुद्धि-नाश का तो वक्त नहीं आया है न तब फिर ऐसा व्यवहार क्यों कर रही हो ? बड़े भैया चले गए, किन्तु मैं तो हूँ। तुम्हें जो कुछ भी कहना है, पीछे मुझ से कहना, यह ठीक वख्त नहीं है।

नवद्वीप जब संवाद पाकर आया तो ताऊ की मृत्यु हो चुकी थी। नवद्वीप मृत व्यक्ति को उद्देश्य करके बोला—"देखता हूँ तुम्हारे मुँह में अग्नि कौन देता है और तुम्हारा श्राद्ध करूं तो मेरा नाम नवद्वीप नहीं।" गुरुचरण कुछ नहीं मानते थे। वे उफ साहब के छात्र रह चुके थे।

शास्त्र के अनुसार जो सर्वपेक्षा अखाद्य था उसी को परम तृप्ति से खाते थे। लोग यदि उन्हें ईसाई कहते तो वे जीभ निकाल कर कहते, हो राम राम, मैं यदि इसाई होऊँ तो गोमांस खाऊँ। जीवित अवस्था में जिनका यह हाल था, सदयमृत अवस्था में वे पिंडनाश की आशंका से ज़रा भी विचलित होंगे, इसकी संभावना नहीं थी। किन्तु तब प्रतिशोध लेने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं था। नवद्वीप को यह सोचकर तृप्ति मिली कि यह आदमी नरक में जाकर पड़ा रहेगा। ताऊ की संपत्ति न मिलने पर भी किसी तरह पेट भरने को अन्न तो मिल ही जाएगा, किंतु ताऊ जहां गए हैं उस लोक में भीख मांगने पर भी पिण्ड न मिलेगा। जीवित रहने पर बहुत सी सुविधाएं मिलती हैं। रामकनाई वरदा सुंदरी के पास जाकर बोले—"भाभी, भैया तुम्हें ही सारी संपत्ति दे गए है। यह लो दलील। लोहे के बक्सा में ठीक से रख दो।"

विधवा तब उच्चस्वर में विलाप कर रही थी। दो-चार दासियाँ भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर अपने शोक-संगीत से सारे गांव की निद्रा को दूर भगा रही थीं। बीच मे दलील का आना था। विधवा का विलाप अब उनकी वाणी में फूट पड़ा——

"अरे मेरा यह सर्वनाश कैसे हो गया रे। अच्छा देवर जी यह दलील किसने लिखी है? आपने? अरे आप के सिवाय मेरा और कौन रे।

"अरे, तुम लोग ज़रा ठहरो, इतना क्यों चिल्ला रही हो। मुझे देवर जी की बात सुनने दो। हाय मैं पहले क्यों नहीं मर

गई रे।" रामकनाई मन में बोले—"यह हमारे भाग्य का दोष है।"

घर लौट कर नवद्वीप की मां रामकनाई को बुरा-भला कहने लगी। लदी हुई गाड़ी लेकर बैल गड्ढे में गिरकर जिस प्रकार गाड़ीवान के हाथ से मार खाकर भी चुपचाप निश्चल भाव से खड़े रहते हैं, रामकनाई भी चुपचाप स्त्री की बातों को सुनते रहे। अन्त में जब उनसे नहीं रहा गया तो कातर स्वर में बोले—"मेरा क्या दोष है? मैं तो दादा नहीं हूँ।"

नवद्वीप की मां फुफकार उठी—"नहीं तुम बड़े आदमी हो जैसे कुछ जानते ही नहीं। हां, दादा ने कहा लिखो और भैया ने लिख दिया। तुम सब एक से हो। तुम इस कीर्ति के लिए ही बैठे थे। मेरे मरने के बाद किसी डाइन को घर में लाकर चांद से बेटे को रास्ते का भिखारी बनाओगे। यही तुम्हारी इच्छा है। किंतु इसके लिए ज़रा भी मत सोचो, मैं इतनी जल्दी नहीं मरूँगी।"

इस तरह रामकनाई के भावी अत्याचार की कल्पना करके गृहिणी अधिक असहिष्णु हो उठी। रामकनाई यह निश्चित जानते थे कि इन काल्पनिक आशंकाओं का यदि उन्होंने ज़रा भी प्रतिवाद भी किया तो उससे हित के बदले अहित होने की संभावना अधिक है। इस डर से अपराधी की तरह चुप खड़े रहे, मानो वह भूल हो गई है, मानो वे चांद जैसे बेटे को संपत्ति से वंचित करके मर गए हैं, अब अपराध स्वीकार करने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है।

इस बीच नवद्वीप अपने बुद्धिमान मित्रों से परामर्श करके मां से बोला—"कोई चिंता की बात नहीं है मां। यह संपत्ति मुझे ही मिलेगी। कुछ दिन के लिए बाबूजी को यहां से दूसरी जगह भेजना पड़ेगा। उनके यहां रहने पर सब काम चौपट हो जायगा। नवद्वीप के पिता की बुद्धि पर नवद्वीप की मां को ज़रा भी श्रद्धा नहीं थी। इससिए पुत्र की यह बात उसके भी मन-पूरक हुई। और उसकी ताड़ना से यह निर्बोध अनावश्यक और अकर्म्मण्य पिता किसी तरह कुछ दिनों के लिए काशी चला आया।

कुछ दिनों के बाद ही वरदा सुन्दरी और नवद्वीप चन्द्र एक-दूसरे के प्रति दलील की जालसाजी करने का अभियोग लगा कर अदालत में आ गये। नवद्वीप ने अपने नाम की जो वसीयत दिखाई उसमें गुरुचरण के स्पष्ट हस्ताक्षर थे। वसीयत के एक दो निःस्वार्थ गवाह भी मिल गए। वरदा सुन्दरी के पक्ष में नवद्वीप के बाप ही एक मात्र साक्षी थे। उनके मामा का एक भाई भी था जो उन्ही के गृह में रहता था। वह बोला—"दीदी तुम बिल्कुल मत सोचो। मैं गवाही दूंगा और अन्य गवाह भी जुटा लूंगा।"

मामला जब सम्पूर्ण रूप से खड़ा हो गया तो नवद्वीप की माँ ने नवद्वीप के बाप को काशी से बुला लिया।

नवद्वीप के पिता को आते ही अदालत से गवाही का सम्मन मिला। रामकनाई विस्मित होकर इस सम्मन का अर्थ सोचने लगे। सहसा नवद्वीप की माँ आकर रोने लगी—"चुड़ैल ने केवल मेरे नवद्वीप को संपत्ति से वंचित ही नहीं किया

बल्कि अब उसे जेल भी भिजवाने की व्यवस्था कर रही है।"

अन्त में जब रामकनाई सारा मामला समझ गये तो उन्हें काठ मार गया। वे उच्चस्वर में चिल्लाकर बोले—"तुम लोगों ने यह क्या किया?" गृहिणी क्रमशः अपना असली स्वरूप प्रकाश करके बोली—"क्यों? इसमें नवद्वीप का क्या दोष है? वह अपने ताऊ की सम्पत्ति न ले?"

हतबुद्धि रामकनाई ने जब देखा कि उनकी स्त्री और पुत्र दोनों मिलकर कभी अश्रु विसर्जन करते हैं तो कभी तर्जन, तो वे कपाल पर कराघात करके बैठ गए, आहार, निद्रा त्याग दी, जल तक स्पर्श नहीं किया।

इसतरह चुपचाप अनाहार से दो दिन बीत गए। मुकदमा का दिन आ गया। इस बीच नवद्वीप ने वरदा सुन्दरी के ममेरे भाई को डरा-धमकाकर ऐसा वश में कर लिया था कि वह भी उसी के पक्ष में गवाही दे गया। जयश्री जब वारदा सुन्दरी को छोड़कर अन्य पक्ष की ओर जा रही थी तो रामकनाई गवाही देने के लिए खड़े हुए।

अनाहार से मृत प्राय वृद्ध साक्ष्यमंच पर खड़े हो गए। चतुर वैरिस्टर अत्यन्त सावधानी से नाना प्रकार के प्रश्न पूछने लगे। रामकनाई हाथ जोड़कर जज की ओर मुड़कर बोले-"धर्मावतार मैं वृद्ध हूँ, अत्यन्त दुर्बल भी। अधिक कहना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मुझे जो कहना है संक्षेप में कहता हूँ। मेरे स्वर्गीय बड़े भाई गुरुचरण चक्रवर्ती मृत्युकाल में सारी सम्पत्ति अपनी स्त्री श्रीमती वरदा सुन्दरी को वसीयत करके दे गए थे। वह वसीयतनामा मैंने अपने हाथ से

लिखा था और दादा ने अपने हाथ से सही की थी। मेरे पुत्र नवद्वीप चन्द्र ने जो वसीयतनामा अदालत में दाखिल किया है, वह नकली है। यह कह कर रामकनाई मूर्छित होकर गिर पड़े।

चतुर वैरिस्टर ने अपने पार्श्ववती एटर्नी से कहा—"बूढ़े को कैसे कस कर पकड़ा था।" ममेरा भाई दौड़कर दीदी से बोला—"बूढ़े ने सब चौपट कर दिया था। मेरी गवाही से ही तुम जीत गयीं।

दीदी बोली—"आदमी को पहचानना मुश्किल है। मैं तो उसे भला आदमी समझती थी।"

कारारुद्ध नवद्वीप के बुद्धिमान मित्रों ने स्थिर किया कि बूढ़े ने निश्चय ही डर के मारे ऐसा किया है, गवाही देते वक्त अपनी बुद्धि ठीक नहीं रख सका।

घर लौट कर रामकनाई कठिन ज्वर से पीड़ित हो गये। प्रलाप में पुत्र का नाम लेते-लेते नवद्वीप के अनावश्यक बाप पृथ्वी से चले गये। आत्मीयों में से किसी-किसी ने कहा—कुछ दिन पहले चले जाते तो कितना अच्छा होता, किन्तु कहने वाले का नाम नहीं कहना चाहता।

: ११ :

जयमाल

राजकन्या का नाम अपराजिता है। उदयनारायण के सभाकवि शेखर ने कभी उन्हें देखा नहीं है। किन्तु जिस दिन कोई नया काव्य राजा को सुनाते तो सभातल में बैठकर अपने कण्ठ-स्वर को इतना ऊँचा कर लेते, जिससे ऊपर वातायनवर्तिनी अदृश्य श्रोत्रियों के भी कानों में जा सके। मानो वे किसी एक अगम्य नक्षत्रलोक को उद्देश्य करके अपना संगीतोच्छ्वास प्रेरित कर रहे हैं जहाँ ज्योतिष-मंडली में उनके जीवन का शुभग्रह अदृश्य महिमा से विराज कर रहा है।

कभी छाया की तरह देख पाते, कभी नूपुर-ध्वनि सुनाई पड़ती, वे बैठकर सोचते, वे चरण कैसे होंगे जिनमें सोने के नूपुर बँधे हुये ताल पर गीत गुनगुना रहे हैं। उन दो रक्तिम शुभ्र कोमल चरणों के प्रति पदक्षेप में कितना सौभाग्य, कितना अनुग्रह, कितनी करुणा, पृथ्वी को स्पर्श कर रही है। अपने मन में उन चरणों की प्रतिष्ठा करके कवि अवसर काल में उनकी नूपुरशिंजन से गीत लिखता।

परन्तु, जो छाया देखी थी, जो नूपुर सुने थे, वह किसकी छाया, किसके नूपुर हैं, ऐसा तर्क भक्त के हृदय में कभी नहीं उठा था।

राजकन्या की दासी मंजरी जब घाट पर जाती तो शेखर के घर के सामने से उसे जाना पड़ता। आते-जाते कवि से उसकी दो-चार बातें ज़रूर हो जातीं। वैसे, निर्जनता देखकर वह कभी-कभी शेखर के घर के भीतर भी जाकर बैठती थी। जितनी बार वह घाट पर जाती उतनी बार ही उसे आवश्यकता थी, ऐसा नहीं लगता था। यदि आवश्यकता थी तो भी घाट जाते वक्त विशेष यत्न से एक रंगीन वस्त्र पहनने और कानों में दो आम्रमुकुल लगाने का कोई उचित कारण नहीं मिलता था।

लोग हँसते, काना-फूँसी करते। लोगों का कोई दोष नहीं था। मंजरी को देखकर शेखर विशेष खुश होता और इस खुशी को छिपाने का प्रयास वह नहीं करता।

उसका नाम था मंजरी; विवेचना करके देखने पर साधारण लोगों के लिये यह नाम ही यथेष्ट था, किन्तु शेखर जरा कवित्व करके उसे वसन्तमंजरी कहता।

लोग सुनकर मुस्काते और कवि की वसन्त वर्णना में 'मंजुल बंजुल मंजरी' ऐसे अनुप्रास भी बीच-बीच में मिलते। यहाँ तक कि जनरव राजा के कानों में भी गया था।

राजा अपने कवि के इस रस बोध का परिचय पाकर और भी आमोदित हुये—इसे लेकर वे कौतूहल करते, शेखर भी उसमें भाग लेता।

राजा हँसकर पूछते—"भ्रमर क्या वसन्त की राज-सभा में ही गीत गाया करता है?"

कवि कहता—"नहीं महाराज, पुष्प-मंजरी का मधु भी चखा

करता है।"

इसीतरह सभी कवि से चुटकी लेकर आनन्दित होते। अन्तःपुर में भी राजकन्या अपराजिता मंजरी से उपहास करती, किन्तु मंजरी इससे असंतुष्ट नहीं होती थी। इसी तरह झूठ और सत्य में मिलकर मनुष्य का जीवन एक तरह से कट जाता है—कुछ विधाता गढ़ती है, कुछ अपने-आप बन जाता है और कुछ पाँच आदमी मिलकर बना देते हैं। इस तरह जीवन पँच-मेल है, प्राकृत और अप्राकृत, काल्पनिक और वास्तविक।

केवल कवि जिन गीतों को गाते थे वे ही सत्य और सम्पूर्ण थे। गीतों का विषय वही राधा और कृष्ण—वही चिरन्तन नर और चिरन्तन नारी, वही अनादि दुःख और अनन्त सुख था। वे गीत ही यथार्थ रूप से उनकी अपनी बात थी और उन गीतों का अर्थ अमरापुर के राजा से लेकर दीन प्रजा तक ने अपने हृदय में अनुभव किया था। उनके गीत हर एक के मुँह पर थे। चाँदनी खिलते ही, जरा दक्षिण हवा का झोंका आते ही, देश के सर्वत्र बगीचों में, कितनी सड़कों पर, कितनी नावों पर कवि के रुचिर गीत मुखरित हो उठते—उनकी ख्याति की सीमा नहीं थी।

इसप्रकार बहुत से दिन बीत गये। कवि कविता लिखते, राजसभा के लोग 'धन्य-धन्य' कहते, मंजरी घाट पर आती—और अन्तःपुर के वातायन से कभी-कभी एक छाया पड़ती, कभी-कभी एक नूपुर की ध्वनि सुनाई पड़ती। इसी समय दाक्षिणात्य से एक दिग्विजयी कवि शार्दूल-विक्रीड़ित छन्द में राजा की स्तुतिगान करते हुए राज-सभा में आये। वे स्वदेश

से होते हुए रास्ते में आये हुए सभी देशों के राज-कवियों को परास्त करके अन्त में अमरापुर में आये हैं।

राजा ने परम आदर से कहा,—"पधारिये, पधारिये।"

कवि पुंडरीक दम्भ से बोले,—"युद्धं देहि।"

राजा के सम्मान को रखने के लिए काव्य-युद्ध करना ही पड़ेगा। किन्तु इस युद्ध के बारे में शेखर अच्छी तरह कुछ नहीं जानते थे। वे चिन्तित और शंकित हो उठे। रात को नींद नहीं आई। यशस्वी पुंडरीक का दीर्घ वलिष्ठ देह, सुतीक्ष्ण वक्र नासिका और दर्प से उद्धत मस्तक उन्हें सर्वत्र दिखाई देने लगा।

प्रातःकाल कवि ने कम्पित हृदय से रणक्षेत्र में प्रवेश किया। प्रभात होते ही सभास्थल लोगों से भर गया था। नगर के अन्य सारे काम-काज बन्द हो गये।

कवि शेखर ने अतिकष्ट से मुँह पर प्रफुल्लता लाकर कवि पुंडरीक को नमस्कार किया; पुंडरीक ने सम्पूर्ण अवज्ञा से नितान्त इंगितमात्र से प्रतिनमस्कार किया और अपने अनुवर्ती भक्तों की ओर देखकर मुस्कराया।

शेखर ने एक बार अन्तःपुर के वातायन की ओर कटाक्ष से देखा—समझ गये कि वहाँ से आज सैंकड़ों कौतूहलपूर्ण कृष्णतारकाओं की दृष्टि इसी जनता पर पड़ रही है। एक बार एकाग्रभाव से चित्त को उसी ऊर्ध्वलोक में स्थित करके अपनी जयलक्ष्मी की वन्दना कर आये, मन ही मन बोले—"मैं यदि आज विजयी होऊँ तो हे देवी, हे अपराजिता, उससे तुम्हारा नाम ही सार्थक होगा।"

तुरही-भेरी बज उठी। जयध्वनि करते हुए समागत सभी खड़े हो गये। शुक्लवसन राजा उदयनारायण शरत् प्रभात के शुभ्रमेघ की तरह धीरे-धीरे सभा में आये और सिंहासन पर बैठ गये।

पुंडरीक उठकर सिंहासन के सामने आकर खड़े हो गये। वृहत् सभा स्तब्ध हो गई।

वक्ष विस्फारित करके, ग्रीवा को ईषत् ऊँची उठा कर, विराट् मूर्त्ति पुण्डरीक उदयनारायण की स्तुति पढ़ने लगे। उनका कंठस्वर सभास्थल में गूंजने लगा, और उसी कण्ठस्वर के ध्वनि-वेग से समग्र जनमंडली विस्मय से निर्वाक् हो गई। विभिन्न प्रकार से उदयनारायण के नाम की व्याख्या की, राजा स्तुति के नाम के अक्षरों से कितने छन्द, कितने विन्यास और यमक हो सकते हैं, यह भी अति सुन्दर ढंग से बताया।

पुण्डरीक जब बैठ गये तो बहुत देर तक उनके गम्भीर कण्ठस्वर की प्रतिध्वनि सभागृह में गूंज रही। दूर देश से आगत पण्डितों ने दाहिना हाथ उठाकर साधुवाद दिया।

सिंहासन पर बैठे हुए राजा ने एक बार शेखर की ओर देखा। शेखर ने भी भक्ति, प्रणय, अभिमान और एक प्रकार की सकरुण, संकोचपूर्ण दृष्टि से राजा की ओर देखा और फिर धीरे-धीरे खड़े हो गये। राम ने जब लोकरंजनार्थ द्वितीय बार अग्नि परीक्षा करनी चाही थी तो सीता मानो इसी तरह अपने स्वामी की ओर देखती हुई सिंहासन के सामने खड़ी हो गई थी।

कवि की दृष्टि ने नीरव भाव से राजा से कहा,—"मैं

तुम्हारा ही हूँ। तुम यदि दुनिया के सामने मेरी परीक्षा लेना चाहते हो तो लो। किन्तु····" इसके बाद और वे नीची कर लीं।

पुण्डरीक शेर की तरह खड़े थे। शेखर चारों ओर से व्याध वेष्टित हरिण की तरह खड़े हुए। तरुण युवक, रमणी की तरह लज्जा और स्नेह कोमल मुख, पाँडुवर्ण कपोल—ऐसा लगता था मानो भाव के स्पर्श मात्र से ही समग्र देह वीणा के तार की तरह झन-झना उठेगा।

शेखर ने नतमुख रहकर धीरे-धीरे शुरू किया। पहला श्लोक शायद किसी को अच्छी तरह नहीं सुनाई पड़ा। इसके बाद धीरे-धीरे मुख उठाया। सुमिष्ट स्पष्ट कण्ठस्वर काँपते-काँपते मानो अग्नि-शिखा की तरह बढ़ने लगा। पहले राजा के चन्द्रवंशीय आदि पुरुषों की बात कही। धीरे-धीरे कितने युद्धों की कहानी ,यज्ञ-दान और अनुष्ठानों की कथा सुना कर अपनी राज-कहानी को वर्त्तमान काल में ले आये। अन्त में अपनी दृष्टि को राजा के मुख पर निबद्ध करके समस्त प्रजा के हृदयों की एक वृहत् अव्यक्त प्रीति को भाषा के छन्द में मूर्त्ति-मान करके सभा के बीच में खड़ा कर दिया—मानो दूर-दूरान्त से शत-सहस्र प्रजाओं का हृदय शब्द-रचना मय राजपितामहों के इस अति पुरातन प्रसाद के महासंगीत से भर दिया। अन्त में शेखर बोले—"महाराज, शब्द-रचना में हार मान सकता हूँ, किन्तु भक्ति में मुझे कौन हरायेगा ?" यह कहकर कम्पित देह लेकर बैठ गये। तब अश्रुजल से अभिषिक्त प्रजागणों ने जय-जयकार किया।

साधारण जनमंडली की इस उन्मत्तता की धिक्कारपूर्ण हास्य द्वारा अवज्ञा करके पुंडरीक पुनः खड़े हो गये। गर्जन करके बोले–"वाक्य से श्रेष्ठ कौन है ?" सारी राज-सभा स्तब्ध हो गई। इसके बाद उन्होंने नाना छन्दों में वेद-वेदान्त आगम और निगम से यह प्रमाणित कर दिया कि विश्व में वाक्य ही श्रेष्ठ है।

इस तरह पाण्डित्य के ऊपर पाण्डित्य और शास्त्र के ऊपर शास्त्र को चढ़ाकर वाक्य के लिये एक अभ्रभेदी सिंहासन का निर्माण किया और वाक्य को स्वर्ग और मर्त्यलोक के मस्तक पर बैठाकर पुनः वज्रनिनाद करके पुंडरीक बोले–"वाक्य से श्रेष्ठ कौन है ?"

पुंडरीक ने दर्प से चारों ओर देखा, और जब किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया तो पुनः धीरे-धीरे आसन पर बैठ गये। पंडितगण 'साधु-साधु' और 'धन्य-धन्य' करने लगे। पुंडरीक के पाण्डित्य को देखकर विस्मित हो गये। कवि शेखर अपने-आपको इस विपुल पाण्डित्य के सामने क्षुद्र समझने लगे। आज की सभा यूंही भंग हुई।

(३)

दूसरे दिन शेखर ने गीत गाना शुरू किया—वृन्दावन में प्रथमवार वंशी की ध्वनि सुनाई पड़ी है, गोपियां यह नहीं जानती हैं कि वंशी कौन बजा रहा है और कहाँ बज रही है। एक बार ऐसा जान पड़ा कि दक्षिण पवन में वंशी बज रही है, कभी गिरि गोबर्द्धन के शिखर से मधुर ध्वनि सुनाई पड़ रही है। ऐसा लग रहा है मानो कोई उदयाचल पर खड़ा

होकर मिलन के लिये पुकार रहा है, मानो के अन्याय प्रान्त पर बैठा कोई विरह-शोक में रो रहा है, मानो यमुना की प्रत्येक तरंग में वंशी बज उठी है, मानो आकाश का प्रत्येक तारा उस वंशी का छिद्र है—अन्त में कुंज-कुंज में, सड़कों पर, फल और फूलों में, जल और स्थल में, अन्दर और बाहर सर्वत्र वह वंशी बजने लगी—वंशी कौन-सा गीत गा रही है यह कोई नहीं समझा सका और वंशी के गीत के उत्तर में हृदय क्या कहना चाहता है वह भी कोई स्थिर नहीं कर सका, केवल दोनों आँखों में अश्रु छलछला आये और एक अभ्रलोक-सुन्दर श्यामस्निग्ध मृत्यु की आकांक्षा से सारा देह-मन उत्कंठित हो उठा।

कवि शेखर राज-सभा को भूल गये, आत्म-पक्ष और प्रति-पक्ष भूल गये, यश-अपयश, जय-पराजय, उत्तर-प्रत्युत्तर, सब भूलकर केवल अपने गीतों में खो गये। मानो अपने हृदय-निकुंज में, एकान्त में वे इस वंशी का गीत गा रहे हैं। सिर्फ एक ज्योतिर्मयी मानस-मूर्त्ति की याद थी, जिसके नूपुर उनके कानों में बज रहे थे। कवि जब गीत समाप्त करके बैठ गये तो एक तो अनिर्वचनीय माधुर्य, एक वृहत् व्याप्त विरह-व्याकुलता से राज-सभा परिपूर्ण हो उठी—कोई भी साधुवाद नहीं दे सका।

थोड़ी देर बाद पुंडरीक उठे। प्रश्न किया,—"राधा कौन है और कृष्ण कौन है ?" इसके बाद अपने प्रश्न का स्वयं ही उत्तर देने लगे। बोले—"राधा प्रणव ओंकार, कृष्ण ध्यान योग और वृन्दावन दोनों भ्रुवों के बीच का स्थान है। इड़ा, सुषुम्ना,

पिंगला, नाभिपद्म, हृत्पद्म, ब्रह्मरन्ध्र सभी का दृष्टान्त उपस्थित किया। 'रा' का क्या अर्थ है और 'धा' का क्या अर्थ है, कृष्ण शब्द के 'क' से लेकर मूर्धन्य 'ण' तक जितने अक्षर हैं प्रत्येक के कितने विभिन्न अर्थ हो सकते हैं इसकी मीमांसा की। एक बार कृष्ण को यज्ञ और राधा को अग्नि बताया, एक बार कृष्ण को वेद और राधिका को षड्दर्षण और इसके बाद कृष्ण को शिक्षा और राधिका को दीक्षा बताया। राधा तर्क है तो कृष्ण मीमांसा है, राधा उत्तर-प्रत्युत्तर है तो कृष्ण जयलाभ है।

यह कहकर राजा की ओर, पंडितों की ओर और तीव्र हास्य से शेखर की ओर देखते हुए पुण्डरीक बैठ गये।

राजा पुण्डरीक की आश्चर्य क्षमता से मुग्ध हो गये, पंडितों के विस्मय का अन्त न रहा और राधा और कृष्ण की नई-नई व्याख्याओं से वंशी के गीत, यमुना कल्लोल, प्रेम का मोह एकदम दूर हो गया, मानो पृथ्वी के ऊपर से कोई बसन्त की हरियाली को उजाड़ता हुआ पवित्र गोमय लेपन करता हुआ चला गया।

शेखर अपने इतने दिनों के गीतों को वृथा समझने लगे। इसके बाद गीत गाने की शक्ति उनमें न रही। उस दिन सभा भंग हुई।

(४)

उस दिन पुण्डरीक ने व्यस्त और समस्त, द्विव्यस्त और द्विसमस्त, वृत्त, तार्क्य, सौत्र, चक्र, पद्म, काकपद, आद्युत्तर, मध्योत्तर, अन्तोत्तर, वाक्योत्तर, लोकोत्तर, वचनगुप्त, मात्रा-

च्युतक, च्युतदत्ताक्षर, अर्थगूढ़, स्तुतिनिन्दा, अपह्नुति, शुद्धापभ्रंश, शाब्दी, कालसार, प्रहेलिका, प्रभृति अद्भुत शब्दों का अर्थ बताकर शब्दचातुरी दिखाई। पुण्डरीक के इस पांडित्य को देखकर राज-सभा मंत्रमुग्ध हो गई।

शेखकर ने जो पद लिखे थे वे सरल थे, उन्हें दुःख-सुख में सर्वसाधारण व्यवहार करते थे। आज उन्होंने सोचा इसमें कोई पाण्डित्व नहीं है; मानो वे लोग भी इच्छा करते ही ऐसे पद लिख सकते थे, केवल अनभ्यास, अनिच्छा और अनवसर के कारण ही नहीं हो पाया। इन गीतों के शब्दों में नवीनता कहाँ है। इससे पृथ्वी के लोगों की शिक्षा नहीं होगी। किन्तु आज जो सुना वह अपूर्व था, कल जो सुना था वह भी अद्भुत था। पुंडरीक के पांडित्य के सामने उनका अपना कवित्व नितान्त बालक की तरह ही लग रहा था।

मत्स्यपुच्छ की ताड़ना से जल में जो गूढ़ आन्दोलन होता है, उसे सरोवर का पद्म जिस तरह समझ लेता है उसी तरह शेखर ने भी अपने चारों ओर के लोगों के मन का भाव समझ लिया।

आज अन्तिम दिन है। आज जय-पराजय का निर्णय होगा। राजा ने अपने कवि की ओर तीव्र दृष्टिपात किया। उसका अर्थ था—"आज चुपचाप रहने से नहीं चलेगा, तुम्हें यथासाध्य कोशिश करनी होगी।"

शेखर शान्तभाव से उठकर खड़े हुए, और सिर्फ यही कहा—"वीणापाणि, श्वेत भुजा, तुम यदि अपने कमल-वन को छोड़कर मल्लभूमि में आज आई हो तो उन भक्तों का क्या

होगा जो अमृत के प्यासे हैं। शेखर ने मुँह उठाकर करुणा-स्वर में कहा। मानो श्वेत भुजा, वीणापाणि नतनयनों से राजान्तःपुर के जालायन के सामने खड़ी है।

पुण्डरीक ने विकट हास्य किया और शेखर शब्द के अन्तिम दो अक्षरों को लेकर बहुत से श्लोक बना दिये। इसके बाद बोले—"पद्मवन से खर का कौन-सा सम्पर्क है और संगीत की इतनी साधना करने के बाद भी उक्त प्राणी ने कैसा फल पाया है? और सरस्वती का अधिष्ठान ही पुण्डरीक में ही है, महाराज के अधिकार में उन्होंने कौन-सा अपराध किया है जो यहाँ उसे खरवाहन करके अपमानित किया गया है!"

पंडितगण इसके प्रत्युत्तर पर हँसने लगे। सभासदों ने भी उसके साथ हँसना शुरू किया और इन लोगों की देखा-देखी सभी हँसने लगे।

इसके उपयुक्त प्रत्युत्तर के लिये राजा अपने कविसखा को अंकुश की तरह तीक्ष्णदृष्टि से ताड़ना करने लगे। किन्तु शेखर ज़रा भी विचलित नहीं हुए और अटल बैठे रहे।

तब, राजा शेखर के प्रति मन ही मन अत्यन्त रुष्ट होकर सिंहासन से खड़े हो गये और गले से मोतियों का हार खोलकर पुण्डरीक के गले में पहना दिया। सभा के सभी लोग 'धन्य-धन्य' कर उठे। अन्तःपुर में एकसाथ बहुत से नूपुरों की ध्वनि सुन पड़ी—उसी ध्वनि को सुनकर शेखर धीरे-धीरे सभागृह छोड़ कर बाहर चले गये।

(५)

कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि है। अन्धकार में फूलों की गंध

दक्षिण हवा के साथ उदार विश्वबन्धु की तरह नगर के घर-घर में प्रवेश कर रही है ।

घर के काष्ठमंच से शेखर ने अपने काव्य-ग्रन्थों को उतार कर सामने स्तूपाकार कर रख दिया है । उनमें अपने ग्रन्थों को अलग कर दिया । कुछ पुरानी रचनायें थीं जो अब शेखर को याद भी न थीं । उन्हें तत्पर हो पलटकर पढ़ने लगे । आज यह सब अकिंचित्कर लग रहा था ।

श्वांस छोड़कर बोले–"सारे जीवन का यह संचय ! थोड़े से छन्द और वाक्यों का मेल ।" इनमें कोई सौंदर्य, मानव का चिर-आनन्द, किसी विश्व-संगीत की प्रतिध्वनि, अपने हृदय का गम्भीर आत्मप्रकाश जो उनमें निबद्ध था—आज उन्हें नहीं दिखाई पड़ा । रोगी के मुँह में जिस प्रकार कोई खाद्य भी नहीं रुचता है उसी तरह आज जो भी हाथ में आता उसे अलग रख देते थे । राजा की मैत्री, लोक-ख्याति, हृदय की दुराशा, कल्पना का कुहक—आज अंधेरी रात में सभी शून्य में विलीन होगये ।

शेखर ने अपने काव्य-ग्रन्थों को फाड़कर सामने की जलती हुई आग में फेंकना शुरू किया । सहसा एक उपहास की याद आई । हँसते-हँसते बोले, "बड़े-बड़े राजा अश्वमेध यज्ञ किया करते हैं—आज मैं काव्यमेध यज्ञ कर रहा हूँ ।" किन्तु तभी लगा कि तुलना ठीक नहीं हुई है । अश्वमेध अश्व जब सर्वत्र विजयी होकर आता है, तभी अश्वमेध होता है—मेरा कवित्व जिस दिन पराजित हुआ, मैं उस दिन काव्य-मेध यज्ञ करने बैठा हूँ—और भी आगे करना ठीक होता ।

एक-एक करके सारे ग्रन्थ जला डाले। अग्नि की लपटें जब ऊँची उठीं तो कवि अपने दोनों शून्य हाथों को ऊपर उठाकर बोले—"तुम्हें दिया, तुम्हें दिया, तुम्हें दिया, हे सुन्दरी अग्निशिखा, तुम्हें ही दिया। इतने दिनों तक तुम्हें ही सारी आहुति देता आया हूँ, आज सब कुछ दे रहा हूँ। बहुत दिनों से तुम मेरे हृदय में जल रही थीं, हे मोहिनी, बहुरूपिणी, यदि सोना होता तो चमक उठता—किन्तु मैं तुच्छ तृण हूँ, देवी, तभी आज भस्म होगया हूँ।"

रात्रि बहुत होगई। शेखर ने अपने घर के सभी वातायन खोल दिये। उन्हें जो फूल पसन्द थे वे फूल सन्ध्या के समय बगीचे से लेते आये थे। उन्हीं फूलों को बिछौने पर फैला दिया और घर के चारों ओर प्रदीप जला दिये।

इसके बाद मधु के साथ एक उद्भिद् का ज़हर मिला कर पी गये और धीरे-धीरे शय्या पर जाकर सो गये। शरीर अवश और नेत्र बन्द होने लगे।

नूपुर बज उठे। दक्षिण हवा के साथ केश-गुच्छों की एक सुगन्धि घर के भीतर दौड़ पड़ी। कवि ने निमीलित नेत्रों से कहा—"देवी, भक्त पर दया की है क्या? इतने दिनों बाद अब दर्शन दिया है?"

एक सुमधुर स्वर कंठ से उतर आया—"कवि, आई हूँ।"

शेखर ने चौंककर आँखें खोलीं। देखा, शय्या के सामने अपरूप एक रमणी मूर्ति खड़ी है।

मृत्युसमाच्छन्न वाष्पाकुल नेत्रों से स्पष्ट नहीं देख पाये। ऐसा प्रतीत हुआ, उनके हृदय की वह छायामयी प्रतिमा अन्तर

से बाहर आकर मृत्यु के समय उसकी ओर स्थिर नेत्रों से देख रही है। रमणी ने कहा,–"मैं राजकन्या अपराजिता हूँ।" कवि अतिकष्ट से उठकर बैठ गये।

राजकन्या ने कहा–"राजा ने तुम्हारा सुविचार नहीं किया है। विजय तुम्हारी ही हुई है। कवि! तभी में तुम्हें जयमाल देने आई हूँ।"

यह कहकर अपराजिता ने अपने कंठ से स्वहस्तरचित पुष्पमाल खोलकर कवि के गले में पहना दी। मरणाहत कवि शय्या पर गिर पड़े।

: १२ :

दुराशा

दार्जलिंग पहुँचकर देखा वृष्टि से दसों दिशायें आच्छन्न हैं। घर से बाहर जाने की इच्छा नहीं होती और घर के भीतर रहने की प्रवृत्ति भी नहीं थी।

होटल में प्रातःकाल का भोजन समाप्त करके भारी बूट और आपदमस्तक म्याकिन्टस पहन कर घूमने निकल पड़ा। जनशून्य 'कलिकाता-रोड' पर एकाकी पद-चारण करते वक्त सोच रहा था कि अवलम्बनहीन मेघराज्य में तो अब अच्छा नहीं लगता, शब्द स्पर्श रूपमयी विचित्रा धरती माता को पुनः पाँच इन्द्रियों से प्राप्त करने की प्रबल इच्छा मन में उठने लगी।

इसी समय थोड़ी दूर पर किसी रमणीकंठ की सकरुण रोदन गुञ्जन ध्वनि सुनाई पड़ी। रोग-शोक संकुल इस विचित्र संसार में रोदन-ध्वनि ज़रा भी विचित्र नहीं है, अन्यत्र किसी समय इधर दृष्टिपात भी नहीं करता किन्तु इस असीम मेघ-राज्य में वह रोदन समस्त सुप्त जगत् के एकमात्र रोदन की तरह मेरे कान में आकर बजने लगा।

रोदन-ध्वनि को लक्ष्य करके जाकर देखा। गैरिक वसनावृत एक नारी रास्ते के किनारे एक शिलाखंड पर बैठी मृदुस्वर में

क्रन्दन कर रही है ।

मन में सोचा, यह भी खूब रही, मानो काल्पलिक की तरह आरम्भ हो रही है, अपनी आँखों से कभी किसी सन्यासिनी को पर्वतश्रृंग पर बैठी रोती हुई देखूँगा ऐसी आशा किसी भी काल में नहीं थी ।

लड़की की जाति क्या है, यह समझ में नहीं आया । फिर भी हिन्दी में पूछा—"कौन हो तुम ? क्या चाहती हो ?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया । मानो मेघ के भीतर से उसने सजल दीप्त नेत्रों से मेरी ओर एक बार देखा ।

मैंने पुनः कहा—"मुझसे डरो मत । मैं भद्र आदमी हूँ ।"

सुनकर उसने हँसते हुये खास हिन्दुस्तानी में कहा—"बहुत दिनों से डर, भय का रोग मुझसे हट गया है, शर्म-लाज भी मुझे छूती नहीं है । बाबू जी एक समय जहाँ रहती थी वहाँ मेरा सहोदर भाई भी बिना अनुमति के नहीं जाता था । आज संसार में मैं किसी से पर्दा नहीं करती ।"

पहले ज़रा गुस्सा हुआ, मेरी चाल-ढाल बिल्कुल साहब जैसी है फिर इसने मुझे बाबूजी कैसे कहा । एक बार सोचा यूँ ही अपने उपन्यास को शेष करके सिगरेट का धूआँ उड़ाता हुआ चला जाऊँ । किन्तु मन में रमणी के प्रति असह्य कुतूहल हो रहा था । अन्त में कुतूहल ने ही विजय पाई । मैंने कुछ उच्चभाव से पूछा—"मैं कुछ मदद कर सकता हूँ ? तुम्हारी कोई प्रार्थना है ?"

उसने मेरे मुँह की ओर स्थिर भाव से देखा और कुछ देर बाद संक्षेप में कहा—"मैं वद्रावन के नवाब ग़ुलाम कादेर

खाँ की कन्या हूँ ।"

विन्द्रावन किस मुल्क में है और नवाब गुलाम कादेर कौन सा नबाब है और उसकी कन्या किस दुःख से सन्यासिनी के वेश में दार्जलिंग में 'कलिकाता रोड' पर बैठकर रो सकती हैं । इनके बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ और इन्हें विश्वास भी नहीं करता हूँ, फिर भी सोचा रसभंग नहीं करूँगा, कहानी खूब जम रही है ।

उसी क्षण गम्भीर होकर सलाम करके बोला—"बेगम साहिबा, माफ कीजियेगा, मैंने आपको पहचाना नहीं था ।"

न पहचानने के अनेक कारण थे, इनमें से सर्व-प्रधान युक्तियुक्त कारण यह था कि इतिपूर्व मैंने कभी भी उन्हें नहीं देखा था । तिस पर जैसा कुहरा था, उसमें अपने हाथ-पैरों को पहचानना ही कठिन था ।

बीबी साहिबा ने भी मेरा कसूर नहीं लिया और संतुष्ट कंठ से दाहिना हाथ उठाकर इंगित से स्वतन्त्र शिलाखंड दिखा कर कहा—"बैठिये ।"

देखा, रमणी में आदेश करने की अपूर्व क्षमता है । वद्रा-वन के गुलाम कादेर खाँ की कन्या नूरउन्निसा या मेहेरउन्निसा या नूर मुल्क ने मुझे दार्जलिंग में 'कलिकाता रोड' के किनारे अपने आसन के सामने बैठने की अनुमति दी है । यह बात होटल से म्याकिन्टस पहन कर निकलते वक्त स्वप्न में भी नहीं सोची थी ।

हिमालयवक्ष के शिलातल पर एकान्त में बैठे दो पान्थ नर-नारी की रहस्यालाप कहानी सहसा सद्य सम्पूर्ण काव्यकथा

की तरह ही लगती है। पाठक के हृदय में दूरागत-निर्जन गिरिकन्दर की निर्झर प्रपात ध्वनि और कालिदास रचित मेघदूत, कुमारसंभव का विचित्र संगीत जाग उठता है, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि बूट और म्याकिन्टस पहने 'कलिकाता रोड, के किनारे एक दीनवेशिनी हिन्दुस्थानी रमणी के साथ एकत्र उपवेशन पूर्वक सम्पूर्ण आत्म-गौरव को अक्षुण्णभाव से अनुभव कर सके, ऐसे लोग बिरले ही हैं। किन्तु, उस दिन घनघोर वाष्प से दसो दिशायें आवृत थीं, लज्जा करने योग्य कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था; केवल अनन्त मेघराज्य में वद्रावन के नवाब गुलाम कादेरखाँ की पुत्री और मैं, एक नवविकसित बंगाली साहेब—दोनों दो शिलाखंडों पर विश्व जगत् के दो खंड प्रलयावशेष की तरह बैठे थे, इस विसदृश सम्मिलन का परम परिहास केवल हमारे अदृष्ट को ही गोचर था, किसी के दृष्टि-गोचर नहीं था।

मैंने कहा—"बीबी जी, आपका यह हाल किसने किया?"

वद्रावन की कुमारी ने कपाल पर कराघात करके कहा—"ऐसा कौन किया करता है यह मैं क्या जानूँ? इतने बड़े पत्थर के कठिन हिमालय को किसने सामान्य वाष्प मेघ से अंतराल में कर रखा है?"

मैंने किसी प्रकार का दार्शनिक तर्क न उठाते हुये सब कुछ स्वीकार कर लिया।

बीबी ने कहा—"मेरे जीवन की आश्चर्य-कहानी आज ही समाप्त हुई है। यदि फरमाइश करें तो कहूँ।"

मैंने आग्रह से कहा,—"जरूर, जरूर! इसमें फरमाइश की

क्या बात है। यदि अनुग्रहपूर्वक कहें तो सुनकर अपने को धन्य समझूँगा।"

बीबी साहिबा ने कहा—"मेरे पितृकुल में दिल्ली के सम्राट् वंश का रक्त था। उसी कुलगर्व की रक्षा करते रहने पर ही मेरे लिये उपयुक्त दूल्हा नहीं मिल रहा था। लखनऊ के नवाब के साथ मेरी सगाई की बातचीत चल रही थी। इसी समय दाँत से कारतूस काटने को लेकर सिपाहियों के साथ सरकार की लड़ाई छिड़ गई। हमारा किला यमुना के किनारे था। हमारी फौज का अधिनायक था—एक हिन्दू। उसका नाम था केशरलाल।"

रमणी ने इस केशरलाल शब्द पर अपने कंठ का मानो सारा संगीत उड़ेल दिया। मैं हिल-डुल कर ठीक से बैठकर सुनने लगा।

"केशरलाल निष्ठावान हिन्दू थे। मैं प्रतिदिन सुबह उठ कर अन्तःपुर के गवाक्ष से देखती, केशरलाल यमुना के जल में निमग्न रहकर नवोदित सूर्य को उद्देश्य करके अंजलि प्रदान करते थे। इसके बाद सिक्त वस्त्रों से ही भैरों राग का भजन गाते-गाते घर लौटते थे।

"मैं मुसलमान बालिका थी, किन्तु कभी भी स्वधर्म की व्याख्या नहीं सुनी थी। अपने धर्म की उपासना पद्धति भी मुझे ज्ञात न थी। उस समय विलास, सुरा और स्वेच्छाचार से हमारे पुरुषों में धर्म का बंधन शिथिल हो गया था, अन्तःपुर के प्रमोदभवन में भी धर्म सजीव नहीं था।

विधाता ने शायद मुझ में स्वाभाविक धर्म-पिपासा दी

थी। अथवा और कोई निगूढ़ कारण था या नहीं यह मैं नहीं कह सकती। किन्तु, प्रत्यह प्रशान्त प्रभाव के नवोन्मोषित अरुणालोक में निस्तरंग नील यमुना के निर्जन श्वेत सोपानतट पर केशरलाल की पूजा अर्चना को देखकर मेरा सदय सुप्तोत्थित अन्तःकरण एक अव्यक्त भक्ति माधुर्य से पूर्ण हो जाता।

संयत शुद्धाचार से ब्राह्मण केशरलाल का गौरवर्ण, तरुण देह, धूमलेश हीन ज्योतिःशिखा की तरह लगता था। ब्राह्मण का पुण्य महात्म्य अपूर्व श्रद्धा के साथ इस मुसलमान दुहिता के मूढ़ हृदय को विनम्र कर देता।

मेरे एक हिन्दू बाँदी थी। वह प्रतिदिन केशरलाल के चरणस्पर्श करके प्रणाम करती और उनकी पदधूलि लेती थी। उसे ऐसा करते देख मेरे मन में आनन्द होता और बाँदी के प्रति ईर्ष्या भी होती। बीच-बीच में वह बाँदी ब्राह्मण भोजन कर कर दक्षिणा देती। मैं आर्थिक सहायता देकर कहती, "तुम केशरलाल को निमंत्रण नहीं दोगी ?" वह कहती,— "केशरलाल ब्राह्मण हैं, लेकिन किसी का अन्न ग्रहण या दान प्रतिग्रह नहीं ग्रहण करते हैं।"

इसतरह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से केशरलाल को किसी प्रकार का भक्ति चिह्न नहीं दिखा सकने पर मेरा चित्त मानो क्षुब्ध और क्षुधातुर हो गया।

हमारे किसी पूर्व पुरुष ने किसी ब्राह्मण कन्या से बलपूर्वक व्याह किया था। मैं अन्तःपुर में बैठी उसी का पुण्यरक्त अपनी शिराओं में अनुभव करती और उसी रक्तसूत्र से केशरलाल के

साथ एक ऐक्य सम्बन्ध की कल्पना करके कुछ तृप्ति पाती थी।

इसी समय कम्पनी के सिपाहियों के साथ लड़ाई छिड़ गई। हमारे वद्रावन के छोटे से किले में भी विप्लव की तरंग जाग उठी।

केशरलाल ने कहा–"अब गो मांस भक्षी गोरों को आर्यावर्त से निकाल कर ही दम लूंगा।"

मेरे पिता गुलाम कादेरखाँ सावधान व्यक्ति थे। उन्होंने कहा–"अंग्रेज लोग असाध्य साधन कर सकते हैं। हिन्दुस्तान के लोग उनसे नहीं लड़ सकेंगे। मैं अनिश्चित प्रत्याशा में अपना छोटा-सा किला नहीं खोऊँगा। मेरे सैनिक अंग्रेज़ों के साथ नहीं लड़ेंगे।"

जब हिन्दुस्तान के सारे हिन्दू-मुसलमानों का रक्त उत्तप्त हो गया था। तो उस वक्त मेरे पिता की बनिये जैसी सावधानता को देखकर मेरे मन में उनके प्रति घृणा पैदा हो गई थी। मेरी बेगम माताएँ तक चंचल हो गयी थीं।

इसी समय सशस्त्र फौज लेकर केशरलाल ने मेरे पिता से कहा—"नवाब, आप यदि हमारे पक्ष में नहीं मिलेंगे तो जब तक लड़ाई चलेगी आपको बंदी करके आपके किल्ले का अधिपत्य अपने हाथ में रखूँगा।"

पिता ने कहा—"यह सब कुछ नहीं करना पड़ेगा। तुम निश्चिन्त रहो, मैं तुम्हारे ही दल में रहूँगा।"

केशरलाल ने कहा—"कोष से कुछ धन चाहिए।" मेरे पिता ने विशेष कुछ न देकर कहा, जब-जब आवश्यकता पड़ेगी, तब-तब देता रहूँगा।"

मेरे पास जितने आभूषण थे उन्हें एकत्र करके हिन्दू दासी के हाथ केशरलाल को भेज दिये। उन्होंने जब मेरे गहने ले लिये तो आनन्द से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा था।

केशरलाल ने पुरानी तलवारों और बन्दूकों की सफाई करनी शुरू कर दी। सहसा इसी समय जिले के कमिश्नर साहब गोरों की फौज लेकर हमारे किल्ले में आ गये।

मेरे पिता ने चोरी से उन्हें विद्रोह का सम्वाद भेज दिया था।

वद्रावन की फौज पर केशरलाल का ऐसा प्रभाव था कि उनके कहते ही टूटी हुई बन्दूकों और पुरानी तलवारों को लेकर वे लड़ने को प्रस्तुत हो गये।

विश्वासघातक पिता का घर नरक की तरह लगने लगा। क्षोभ, दुःख और लज्जा से हृदय विदीर्ण हो रहा था। अपने डरपोक भाई की पोशाक पहन कर मैं चुपचाप किसी से कुछ न कह कर घर से निकल पड़ी।

धूल और बारूद के धूआँ से सारा आसमान भर गया था। यमुना के जल को रक्तराग में रंग कर भास्कर भगवान् अस्त हो गये। सन्ध्या के आकाश में परिपूर्ण चन्द्र का उदय हुआ।

रणक्षेत्र का दृश्य अति भयानक था। दूसरे समय मैं इस दृश्य को देखकर विदीर्ण हो जाता, किन्तु उस दिन स्वप्नाविष्ट की तरह में केवल केशरलाल का ही सधान कर रही थी।

ढूंढते-ढूंढते रात्रि के द्विप्रहर में उज्ज्वल चन्द्रालोक में देखा कि रणक्षेत्र से थोड़ी दूर पर यमुना के किनारे आम्रकानन की

छाया में केशरलाल और उनके भृत्य देवकीनन्दन का भक्त देह पड़ा है। समझते देर न लगी कि भयंकर आहत अवस्था में प्रभु ने भक्त को अथवा भक्त ने प्रभु को रणक्षेत्र से इस निरापद स्थान पर लाकर मृत्यु के हाथों में आत्मसमर्पण कर दिया है।

मैंने भू-लुंठित होकर अपनी बहुत दिनों की अभिलाषा चरितार्थ की। केशरलाल के पैरों पर गिरकर मैं अपने केश खोलकर बारम्बार उनकी पदधूलि पोछने लगी। अपने उत्तप्त ललाट पर उनके पादपद्म का स्पर्श किया। उनके चरणों का चुम्बन करते ही बहुत दिनों की निरुद्ध अश्रुराशि उद्वेलित हो उठी।

इसी समय केशरलाल का देह विचलित हुआ। उनके कंठ से वेदना का अस्पष्ट आर्त्तस्वर सुनकर मैं उनके चरणतल छोड़कर चौंक उठी, सुना निमीलित नेत्रों से, शुष्क कंठ से उन्होंने कहा,—'पानी'।

मैं तत्क्षण अपने गात्र-वस्त्रों को यमुना के जल में भिगो कर ले आई और वस्त्रों को निचोड़ कर उसका पानी उनके मुँह में डालने लगी। केशरलाल के क्षतस्थानों पर पट्टी बाँध दी।

इस तरह कई बार यमुना से पानी लाकर उनके मुँह पर डालती रही। धीरे-धीरे उन्हें चेतना हुई। मैंने पुछा, "और पानी दूँ?"

केशरलाल ने पूछा, "कौन हो तुम?"

मैंने कहा—"आपकी सेविका, नवाबकादेर खाँ की कन्या हूँ।" यह कह कर सोचा था कि मृत्यु के समय केशरलाल

अपने भक्त का शेष परिचय लेने जाएँगे, इस सुख से मुझे कोई वंचित नहीं कर सकता।

मेरा परिचय पाते ही केशरलाल सिंह की तरह गर्जन कर उठे--"बेइमान की बेटी, विधर्मी! मृत्यु के समय भी यवन का पानी पिला कर मेरा धर्म खो गई।" कह कर प्रबल शक्ति से मेरे कपाल पर दाहिने हाथ से आघात किया। मैं मूर्छित प्राय होकर चारों ओर अंधकार देखने लगी।

मैं मंत्रमुग्ध की तरह बैठा था। कहानी सुन रहा था या संगीत सुन रहा था मालुम नहीं। मेरे मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला था। इतनी देर बाद सहसा असह्य होकर बोला--"जानवर!"

नबाव कन्या ने कहा,--"कौन जानवर? जानवर क्या मृत्यु यंत्रणा में मुँह का पानी फेंक देता है?"

मैंने कहा--"तब, केशरलाल देवता है।"

नवाब दुहिता ने कहा--"कैसे देवता? देवता क्या भक्त की एकाग्रचित्त की सेवा प्रत्याख्यान किया करते हैं?"

"यह भी ठीक है।" कह कर मैं चुप हो गया।

नबाबपुत्री कहने लगी,--"पहले तो में स्तम्भित रह गई। ऐसा लगा मानो मेरे ऊपर आसमान टूट पड़ा है। चेतना पाकर कठोर, कठिन, निष्ठुर निर्विकार पवित्र ब्राह्मण को दूर से प्रणाम किया।

नवाब दुहिता को भूलुण्ठित होकर प्रणाम करते देखकर केशरलाल ने मन में क्या सोचा था यह तो कह नहीं सकती किन्तु उनके मुँह पर किसी प्रकार का भावान्तर नहीं आया।

केवल शान्तभाव से मेरी ओर देखकर चले गये। यमुना के घाट पर एक छोटी-सी नाव थी। उस नाव पर बैठ कर केशरलाल ने नाव खोल दी। देखते-देखते नाव अदृश्य हो गई।" यह कहकर नवाब कन्या चुप हो गई। मैं भी कुछ नहीं बोला।

बहुत देर बाद वक्ता ने शुरू किया, "इसके बाद की घटनावलि अत्यन्त जटिल है। एक गम्भीर जंगल के भीतर से यात्रा की थी। कौन से रास्ते से चली थी, अब क्या उसे ढूढ़ा जा सका है? किन्तु जीवन के इन कुछ दिनों में ही समझ गई कि असह्य या असम्भव कुछ नहीं है। नबाब के अन्तःपुर की बालिका के लिए बाहर की दुनिया एकान्त ही दुर्गम हो सकती है, किन्तु वह काल्पनिक है। एक बार निकल पड़ने पर चलने के लिये एक न एक रास्ता मिलेगा ही। वह रास्ता नवाबों का नहीं है। उस पर चिरकाल के लोग चलते आये हैं—वह विचित्र है, सीमाहीन है, पर है तो रास्ता ही!

"इस साधारण मानव के चलने के पथ पर एकाकिनी नवाब-दुहिता की सुदीर्घ यात्रा का वृत्तान्त मनोरंजक नहीं होगा, होने पर भी उन बातों की पुनरावृत्ति करने का उत्साह मुझ में नहीं है। संक्षेप में यही कह सकती हूँ,

दुःख कष्ट मुझे बहुत सहने पड़े हैं फिर भी जीवन असह्य नहीं लगा। आतिशबाज़ी की तरह जितनी जलती गई उतनी ही उदात्त गति पाती गई। जब तक वेग से चलती रही तब तक जलती रही हूँ, ऐसा बोध नहीं हुआ। आज सहसा उस परम दुःख के परम सुख की आलोक वर्तिका के बुझते ही पथ-

प्रान्त की धूलि पर जड़पदार्थ की तरह गिर पड़ी है—आज मेरी यात्रा शेष हो गई है। यही मेरी कहानी भी समाप्त होती है।"

यह कह कर रमणी खड़ी हो गई और बोली,—"नमस्कार बाबूजी।"

दूसरे क्षण मानो संशोधन करके बोली,—"सलाम बाबू साहब !" इस मुसलमानी अभिवादन के साथ ही वह उस हिमाद्रि शिखर के धूसर कुहरे में अदृश्य हो गई।

आंखें खोलकर देखा, सहसा, मेघ के भीतर से स्निग्ध सूर्यालोक में झिलमलाता हुआ आकाश दृष्टिपथ पर उद्भासित हो उठा। ठेला गाड़ी पर अंग्रेजी रमणी और अश्वपृष्ठ पर अंगरेज पुरुष गण हवाखोरी के लिए निकले हैं।

द्रुत उठ खड़ा हुआ। इस सूर्यालोक में वह मेघाछन्न कहानी सत्य नहीं लगती थी। मेरा विश्वास है, मैंने पर्वत में कुहरे के साथ अपनी सिगरेट की धूमकुण्डली मिलाकर एक कल्पना की थी। वह मुसलमान ब्राह्मणी, वह विप्रवीर, वह यमुना के तीर का किला, पर सब शायद कुछ भी सत्य नहीं है।